बच्चों की शिक्षा : एक जटिल समस्या

लेखक
वेणीमाधव शर्मा, बी. ए., बी. टी.।

भूमिका लेखक
माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी,
शिक्षा और अर्थ सचिव
युक्तप्रान्त

प्रकाशक
पुस्तक-भवन,
काशी।

बच्चों की शिक्षा : एक जटिल समस्या

लेखक

वेणीमाधव शर्मा, बी. ए., बी. टी.।

भूमिका लेखक

माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी,

शिक्षा और अर्थ सचिव

युक्तप्रान्त

प्रकाशक

पुस्तक-भवन,

काशी।

०

प्रिय प्रमोदचन्द्र
और
प्रिय शरच्चन्द्र
को

आमुख

श्री बेणीमाधव शर्मा ने अपने शिक्षा-सम्बन्धी निबंधों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का जो विचार किया है, मैं उसका स्वागत करता हूँ। हिन्दी में इस विषय पर पुस्तकों का एक प्रकार से अभाव है। इसका एक कारण तो यह है कि जो लोग शिक्षण का काम कर रहे हैं, वे इन बातों पर सोचते ही नहीं। अधिकांश लोग इसलिए शिक्षक नहीं हैं कि उनको यह काम विशेषतया पसन्द है, प्रत्युत इसलिए कि किन्हीं कारणों से उनको किसी दूसरे व्यवसाय में हाथ डालने का अवसर नहीं मिला। शिक्षक बनने के पहिले शिक्षा-शास्त्र की कुछ जानकारी अनिवार्य बना दी गयी है, इसलिए पढ़ लेते हैं। परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, नौकरी मिली बस फिर न तो पुस्तकों को देखते हैं, न बच्चों के साथ प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। ऐसे लोग शिक्षक होने के योग्य नहीं हैं परन्तु दुर्भाग्य से शिक्षक समुदाय में अधिकतर व्यक्ति ऐसे ही हैं। दूसरा कारण यह है कि अभिभावकों में भी स्यात् ही कोई इन बातों को सोचता है। अभिभावक समझता है कि बच्चे को अध्यापक को सौंप देने के बाद मेरी इति कर्तव्यता हो गयी। सबसे बड़ा कारण यह है कि समाज की सामूहिक विचारधारा इस ओर कम ही फिरी है। सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त है। राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विचारों और व्यवहारों

को एक सूत्र में ग्रथित करने का प्रयत्न नहीं हुआ है। जीवन किसी स्थिर दार्शनिक आधार पर खड़ा नहीं किया गया है।

जब भी ऐसा किया जायगा उस समय यह प्रश्न आप ही सामने आ जायेगा। पुरुषार्थ, जीवन का लक्ष्य क्या है? और इस प्रश्न का जो उत्तर दिया जायगा उसी पर शिक्षा का स्वरूप निर्भर करेगा। यह शिक्षक का काम होगा कि वह बच्चों को इस योग्य बनाये कि वह पुरुषार्थ, जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, परन्तु शिक्षक की सफलता अभिभावक के सहयोग पर निर्भर होगी। घर और पाठशाला एक दूसरे के प्रयास और वातावरण का प्रपूरण करेंगे। प्राचीन भारतीय आचार्यों का यह मत था—और मेरे अध्ययन ने मुझे इसका ही समर्थक बनाया है कि मनुष्य का परम पुरुषार्थ मोक्ष है। भारतीय वैयक्तिक और सामूहिक जीवन-व्यवस्था इसी लक्ष्य के आधार पर खड़ी की गयी थी। आज मार्क्स ने जिस विचारधारा का प्रवर्तन किया है उसने दूसरा ही लक्ष्य स्थिर किया है। इन दोनों में कौन-सा ठीक है, दोनों ही ग़लत हैं या इनका समन्वय करना होगा—इन प्रश्नों को बहुत दिनों तक उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। अन्यथा, समाज को धन श्रम और प्रतिभा की अपार राशि का निरन्तर अपव्यय करना होगा।

श्री बेणीमाधव शर्मा के वाक्य-विन्यास से कहीं कहीं यह ध्वनि निकलती है कि बच्चे पर कोई नियन्त्रण न किया जाय, उसके विचारों और प्रवृत्तियों को स्वच्छन्दता से विकसित होने दिया जाय। मेरा विश्वास है कि उनकी यह राय नहीं है। यदि समाज के सहस्रों वर्षों के अनुभव

से बच्चे को लाभ उठाना है तो उसपर नियन्त्रण करना ही होगा। उसकी सब प्रवृत्तियाँ स्वतन्त्र नहीं छोड़ी जा सकतीं। जब तक ठोकर खाकर वह अनुभव का संग्रह करेगा तब तक आयु का बहुमूल्य अंश नष्ट हो जायगा। अनुभव का मूल्य भी स्यात् बहुत देना पड़ जाय। फिर समाज के हितैषियों और विचारकों ने दीर्घ मनन और अध्ययन के बाद जीवन का जो लक्ष्य स्थिर किया है और तदनुरूप वैयक्तिक और सामूहिक जीवन की जो व्यवस्था बनायी है उसके साँचे में बच्चे को ढालना ही होगा। यदि ऐसा न होगा तो फिर समाज मनुष्यों का स्वार्थ प्रेरित असंघटित भीड़ के समकक्ष हो जायगा। यदि बच्चे को योंहीं छोड़ दिया जाय तो जब तक वह अपने से नैतिक विधानों और सामाजिक स्थापनाओं की खोज करके समाज में अपनी जगह ढूँढेगा तब तक वह अपना और दूसरों का जीवन दूभर कर देगा। अभिभावक और शिक्षक का कर्तव्य है कि बच्चे को समाज में अपने योग्य स्थान पाने में सहायता दें, परन्तु उनका यह भी कर्तव्य है कि अपने सामने समाज का पूरा चित्र रक्खें। बच्चे की बाढ़ का इतना नियंत्रण करना ही होगा कि समाज रूपी शरीर का अवयव बनकर रह सके।

परन्तु एक दूसरा पहलू भी है। हम उसे भूल जाते हैं। उसकी ओर बेणीमाधवजी ने हमारा ध्यान आकृष्ट करके बहुत उपयोगी काम किया है। बच्चा भी अपना व्यक्तित्व रखता है। वह न तो घर के बड़े लोगों के लिए विनोद सामग्री है न शतरंज का जड़ मुहरा है जिसे अध्यापक या शासक जहाँ चाहें रख दें। नियन्त्रण हो पर ऐसा नहीं कि

व्यक्तित्व ही कुचल जाय, स्वतन्त्र विचार और संकल्प की क्षमता जाती रहे। समाज की सेवा संकल्प-हीन, दूसरों के संकेत पर नाचने वाली कठपुतलियाँ नहीं कर सकतीं। अच्छे से अच्छे विचारक अच्छी से अच्छी व्यवस्था बना दें, परन्तु उसमें परिवर्तन की आवश्यकता आती रहेगी। यदि समय पर सुधार न किया गया तो रोग बढ़ता जायगा और स्यात् इतना असाध्य हो जायगा कि समाज छिन्न-भिन्न हो जाय। इसको सँभालने का यही उपाय है कि जो लोग समाज के अवयव, उसके नागरिक होंगे उनको बचपन से ही स्वतन्त्र-चेता और साहसी बनने में सहायता दी जाय। नियंत्रण और स्वतंत्र विकास का समन्वय ही शिक्षक और शिक्षा पद्धति की सफलता की कुञ्जी और कसौटी है।

दो शब्द धार्मिक शिक्षा के संबंध में भी कहूँगा। मैं स्वयं धार्मिक शिक्षा का पक्षपाती हूँ। लेखक महोदय ने जिस शिक्षा पर आक्षेप किया है वह भारतीय नहीं है। वह विचार धारा हमारे यहाँ मुस्लिम काल में आयी। आज योरप की बदौलत उसका वेग और बढ़ गया है। हमें उसका तिरस्कार करना चाहिए परन्तु उसके साथ ही बच्चों में उस अंकुर को तो बैठाना ही चाहिए जो भारतीय संस्कृति की सारे विश्व के लिए देन है। मौलिक पाप सेमेटिक कल्पना है, अपनी इच्छा मात्र से जगत का सृष्टि और लय करने वाला, स्तुति से प्रसन्न होकर पाप पुंज से छुड़ानेवाला, अक्षय स्वर्ग या नरक देने वाला तथा अश्रद्धालुओं की यातना करने वाला, ईश्वर सेमेटिक है। भारतीय अध्यात्म शास्त्र यह कहता है कि जीव नित्य पवित्र, चिद्घन, आनन्दस्वरुप है। वह

अज्ञानवशात् दुर्बल, पापी, दीन, अपवित्र प्रतीत होता है। उसको चाहिये कि ज्ञान प्राप्त करके अपने स्वरुप का साक्षात्कार करे। यह ज्ञान प्राप्ति नाक रगड़ने से नहीं होगी। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। इस आधार पर दी गयी धार्मिक शिक्षा, शिक्षा का आवश्यक अंग होनी चाहिये। वह किसी को भीरु नहीं बना सकती। पुर्नजन्म और प्रारब्ध पर विश्वास करना अन्धी, स्वेच्छाचारी ईश्वर निर्मित, किस्मत पर विश्वास करना नहीं हैं। इस प्रकार की शिक्षासे आत्म निर्भरता आती है और वह लोक-संग्रह, सच्ची लोक-सेवा, की दृढ़तम आधार शिला होती है।

अस्तु, शिक्षा का प्रश्न बहुत जटिल है। अनेक शरीरों में होता हुआ कोई बच्चा हमारे यहाँ जन्म लेता है। हमारा यह कर्तव्य है कि उसको अपने मनोरंजन या उपयोग की वस्तु न समझें, यह सोचना चाहिये कि इस जीव को परम पुरुषार्थ के लक्ष्य तक पहुँचाने का, इसके वर्तमान और भावी जन्मो को बनाने का गम्भीर दायित्व हमारे ऊपर है। जो बराबर ऐसा नहीं सोचता वह न तो अभिभावक होने के योग्य है, न शिक्षक कहलाने का अधिकारी है। लाखों बच्चों को माता पिता और अध्यापक के हठ और ना-समझी का शिकार बनना पड़ता है; उनका सारा जीवन अतृप्ति, अव्यक्त, असन्तोष, चिड़चिड़ापन, ईर्ष्या की चलती फिरती मूर्ति बन जाता है और समाज उनकी सेवा से वञ्चित रह जाता है। किसी के जीवन को सन्मार्ग पर लगाने के लिए सद्भावमात्र पर्याप्त नहीं है। सद्ज्ञान, सहानुभूति और दूरदर्शिता भी चाहिये।

यह पुस्तक शिक्षा मनोविज्ञान का शास्त्रीय विवेचन नहीं है परन्तु इसमें एतत्सबंधी कई ऐसी बातों की ओर ध्यान खींचा गया है जो आवश्यक होने के साथ ही प्रतिदिन के व्यवहार की हैं। जो लोग इस विषय से अभिरुचि रखते हैं वे तो बड़े ग्रन्थों को देखेंगे ही परन्तु प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य उद्देश्य विचारों का जगाना है। इस उद्देश्य में यह सफल हुई है। मैं आशा करता हूँ कि इसको पढ़ने के बाद बहुत से गृहस्थ अपने बच्चों और उनकी शिक्षा को नयी दृष्टि से देखेंगे।

काशी
१ भाद्र २००१

सम्पूर्णानन्द

❀ ॐ ❀

बच्चों की शिक्षा : एक जटिल समस्या

उपयुक्त वातावरण

बच्चों की शिक्षा दो प्रधान बातों पर निर्भर करती है—पैतृक संस्कार और उपयुक्त वातावरण। संस्कारों की सीमा विस्तृत है। माता पिता की शिक्षा, उनके मनोभावों, विचारों, कार्यकलाप, और व्यवहारों के सामूहिक रूप का कुछ अंश बच्चा थाती के रूप में पाता है। इस थाती को हम पैतृक संस्कार के नाम से संबोधित कर सकते हैं। इन पैतृक संस्कारों का प्रभाव तो बच्चे के जीवन पर अवश्य ही पड़ता है, पर यदि बच्चा बुरे संस्कारों को थाती के रूप में लेकर इस संसार में आया हो उस समय उसकी वह थाती उपयुक्त वातावरण के द्वारा धीरे से उसके पास से विलुप्त की जा सकती है। अच्छे पैतृक संस्कार और उपयुक्त वातावरण के संयोग से तो बड़े सुन्दर समाज का निर्माण किया जा सकता है। लेकिन यदि अच्छे संस्कारों की थाती हो और उपयुक्त वातावरण न हो तब तो उसका भी वही परिणाम होता है जो बुरे पैतृक संस्कारों की थाती लेकर आने वाले का होता है।

बच्चों के जीवन-विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की बड़ी आवश्यकता होती है। उपयुक्त वातावरण द्वारा पिछड़ी जाति के लोग भी अच्छी तरह से शिक्षित किये जा सकते हैं और उनसे वही कार्य लिया जा सकता है जो अच्छे वंश और अच्छे वातावरण में पले बच्चों से लिया जा सकता है।

ऐसे देश में जहाँ की शिक्षा दश प्रतिशत के नीचे ही लड़खड़ा रही हो, और जहाँ शिक्षा का महत्व केवल चाकरी के लिये ही हो वहाँ उपयुक्त वातावरण निर्माण की बात करना हास्यास्पद सा प्रतीत होता है, और इस विषय में कहा जाय तो क्या कहा जाय ?

हमारे यहाँ ऐसे अभिभावकों की अधिक संख्या है जिनको दिन रात पेट की चिन्ता सताती रहती है। जब पेट खाली है तब दुनियाँ भर की कठिनाइयाँ सामने हैं। अभिभावक बेचारों के दिमाग को दिन रात, किस प्रकार पैसा कमाया जाय और रोटी का प्रबन्ध हो, यही चिन्ता सताती रहती है। जब वह घर आता है तो हजारों प्रकार के बोझों से लदा, भारी कदम उठाता, उदास चेहरे से घर में प्रवेश करता है। उसकी अपनी ही कठिनाइयाँ इतनी हैं कि उन्हें वह सुलझा नहीं पाता फिर बाल बच्चों की कठिनाई की ओर ध्यान देने का उसके पास समय कहाँ ! अगर आफत का मारा बेचारा अधिक संतान वाला हुआ तब तो और भी खैर नहीं। बच्चे चारो तरफ रेंगते रहते हैं।

यदि अभिभावक खुश हाल और व्यापारी है तब तो वह पढ़ने

का महत्व और भी नहीं समझ पाता। बिना पढ़े ही उसका लड़का सैकड़ों कमाता है तब वह पढ़ाकर क्या करेगा ? उसे कोई नौकरी तो करनी नहीं।

इन कठिनाइयों के बीच उपयुक्त वातावरण के निर्माण का प्रश्न अभिभावकों की सहायता से तो कभी होना संभव नहीं। जब तक ये कठिनाइयाँ और भावनायें समाज और व्यक्ति के बीच से हटाई न जायंगी, तब तक समाज में उपयुक्त वातावरण का निर्माण नहीं हो सकता।

बच्चों की शिक्षा का महत्व तभी अभिभावकों की समझ में आयगा जब वे स्वयं शिक्षित होंगे। उसी अवस्था में सब अभिभावक शिक्षित हो सकते हैं जब कि सबकी जीविका का प्रश्न सुलझा हो। केवल प्रौढ़ों की शिक्षा के लिये रात्रि पाठशालायें खोल देने और उनमें १० या २० रुपये के अध्यापकों की नियुक्ति कर देनेसे प्रौढ़ोंकी शिक्षा का प्रबन्ध नही हो सकता और न तो वे शिक्षा का महत्व ही समझेंगे। प्रौढ़ पाठकों की या छात्रों की बात तो जाने दीजिये इन पाठशालाओं के शिक्षक भी उन स्कूलों को कागजों तक ही सीमित रखना चाहते हैं और जो वेतन उन्हें मिलता है उसे वे दैवी आय समझते हैं।

इन कठिनाइयों का निराकरण तभी हो सकता है जब समाज शासन सत्ता तथा शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों में आमूल परिवर्तन कराने की चेष्टा की जाय। बच्चों और प्रौढ़ों की

शिक्षा के लिये उपयुक्त स्कूल हो और उनके अध्यापक शिक्षा का महत्व समझने वाले और समझा सकने वाले हों।

कक्षाओं का विभाजन बच्चों की अवस्था और उनकी बुद्धि के अनुसारसे किया जाना चाहिये अवस्था को अवश्य महत्व दिया जाय पर बुद्धि का भी उतना ही ध्यान रखना आवश्यक है। प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था का प्रबन्ध राष्ट्र के हाथ में रहे जो प्राथमिक शिक्षा के लिये— केवल घटाटोप के लिये नहीं—अनिवार्य रूप से सब बच्चों को स्कूल में भेजने के लिए अभिभावकों को बाध्य करे। ये प्राथमिक पाठशालायें निःशुल्क होनी चाहिये तथा इनमें विस्तृत अनुभव वाले व्यक्तियों को अध्यापकों का पद दिया जाय, तथा उनको 'पेटखाली ईमान खाली' का ध्यान न हो इसलिये अच्छा वेतन दिया जाय। राष्ट्रीय आन्दोलनों से पूर्व हमें इन शिक्षा आन्दोलनों को तथा समाज के सभी बच्चों की प्राथमिक शिक्षा को अधिक महत्व देना चाहिए।

बच्चों की शिक्षा के लिये ऐसे शिक्षा उद्यान गृहों का निर्माण किया जावे जहाँ उनकी शिक्षा के लिये, तथा संस्कारों को उचित मार्ग पर लाने के लिये प्रयोग किये जा सकें। जटिल बालकों तथा असाधारण बालकों की शिक्षा के लिये अलग संस्थायें हों जहाँ उनकी असाधारणता तथा जटिलताओं को हटाने का प्रयत्न किया जाय तथा उनके जीवन के इतिहास (*Life history*) को अधिक महत्व दिया जाय। इन जीवन के इतिहासों की सहायता से

बच्चों की असाधारणता और जटिलताओं के कारण का ज्ञान हो जाता है।

शिक्षा संस्थाओं में दण्ड की व्यवस्था पशुवत् होती है। उसे हटाने का भी प्रयत्न करना चाहिये। हमारी इस पाशव वृत्ति को असाधारण तथा जटिल बालकों की कठिनाइयाँ उत्साहित करती रहती हैं। जहाँ इन बच्चों के लिये अलग प्रबन्ध होता है वहाँ दण्ड की व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

पाठशालायें कारागार का लघुरूप न हों। उनमें ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिये जब कि बालक अपने को कुछ समय तक स्वतन्त्र वातावरण में होने का भी अनुभव करे। बालकों या बच्चों से सम्बन्ध रखने वाले जितने कार्य हों उनमें बच्चों को भी हाथ बँटाने के लिए उत्साहित करना चाहिये तथा उन्हें भी कुछ अधिकार प्राप्त होने चाहिये। बच्चों में दास प्रवृत्ति नहीं बढ़ानी चाहिये और न तो अध्यापक को जेलर का भाई ही होना चाहिये। यदि साधारणतया इन बातों का पाठशालाओं में ध्यान रक्खा जाय तो हमारी धारणा है कि बच्चों की बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी; भावी समाज के निर्माण के लिये हमें बड़े ही उपयुक्त नागरिक मिलेंगे शत प्रतिशत शिक्षा का प्रचार होगा और हर जगह बच्चों के लिये उपयुक्त वातावरणों का निर्माण भी होगा।

अपराधी नहीं, अस्वस्थ

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शिक्षासंस्थाओं में शिक्षक के लिये बालक की ओर नहीं, शिक्षा की ओर ही ध्यान देना आवश्यक समझा जाता था। केवल पाठ्य विषय का ज्ञान और विद्वता का ही महत्व था। पर बात अब बदल गई है। यह आवश्यक नहीं कि जो विद्वान हो वह अच्छा शिक्षक भी हो। अनुभव से सिद्ध है कि कभी कभी साधारण ज्ञानवाले व्यक्ति भी महान शिक्षक होते हैं, क्योंकि उनके लिये शिक्षा नहीं बालक ही प्रधान विषय होता है। वे पुस्तकों का नहीं बालकों का ही अध्ययन करते हैं। अब 'जटिल' बालकों को भी साधारण बालकों के ही समान शिक्षा दी जा सकती है और उनकी जटिलता अपराध नहीं, अस्वस्थता की ही सूचक मानी जाती है।

हम लोगों की प्रचलित धारणा है, विशेषतया धार्मिक क्षेत्रों की, कि मनुष्य अपूर्ण है, अज्ञानी है और जब वह जन्म लेता है तभी से उसे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये कि वह ज्ञानी और पुण्यात्मा हो जाय। इस प्रचलित धारणा का पूर्ण प्रभाव शिक्षा-क्षेत्र में और बच्चों के संरक्षकों के ऊपर भी पड़ा है। प्रत्येक पिता और शिक्षक सोचता है कि बच्चा अज्ञान है, उसे ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता है और इसीका ध्यान रख कर वह उसकी शिक्षा प्रारम्भ

करता है। यह शिक्षा बच्चे के लिये कष्ट का और दुःख का कारण हो जाती है। प्रत्येक संरक्षक अपने बच्चों से कहता है—'यदि फिर तुमने ऐसा किया तो ऐसा तमाचा लगेगा कि होश ठीक हो जायंगे।' इसी तरह शिक्षक कहता है कि 'यदि तुमने कल यह काम न किया तो बेंत पड़ेगें।' संरक्षक और शिक्षक दोनों भय के द्वारा बालक को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं। बच्चे के जीवन में यही 'भय' प्रमाद और अपराध का जन्मदाता होता है।

अशिक्षित ही नहीं शिक्षित समाज में भी दंड प्रणाली का अधिक महत्व है। 'मैं इसे सुधारने के लिये सब कुछ करके हार गया। इसका सुधार कैसे होगा? यह खराब क्यों हो गया?' आदि बातें सूचित करती हैं कि बच्चा दोषी है और वह इच्छा पूर्वक बुराई की ओर जा रहा है, अतः उसका सुधार आवश्यक है। संरक्षक या पिता और शिक्षक चाहते हैं कि बच्चा पुरुषों की-सी और अनुभवी वृद्धों की-सी बातें करनेवाला बाल्यकाल में ही हो जाय। लेकिन यह ठीक नहीं। मेरा तो खयाल है कि बालक में जो त्रुटियाँ या दोष दृष्टिगोचर होते हैं उनके लिए वह जिम्मेवार नहीं, अक्सर उसकी प्रारम्भिक शिक्षा ही सदोष और अपूर्ण रहती है जिससे 'जटिलता' उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

आज हमारा विश्वास है कि मनुष्य इच्छाप्रधान प्राणी है। उसकी इच्छा ही उसका मार्ग-प्रदर्शन करती है। 'अमुक व्यक्ति

हत्या न करता यदि उसने जरा सा सोचा होता' 'उसने चोरी न की होती यदि उसने मन को वशमें रखा होता' आदि बातें सूचित करती हैं कि हम इच्छा को प्रधानता देते हैं। पर एक मनोवैज्ञानिक उसे दूसरी तरह से देखेगा। चोर या हत्यारा हमारे लिए घृणित व्यक्ति हो सकता है पर मनोवैज्ञानिक के लिए वह निरीह और एक ऐसा व्यक्ति है जिसकी शारीरिक क्रियाएँ उसके वश में नहीं हैं और वह यह नहीं जानता कि वह सचमुच क्या कर रहा है।

अचेतनावस्था के मनोविज्ञान ने यह बात सिद्ध कर दी है कि बहुत से हमारे कार्यों का उद्गम ऐसा है जिनके विषय में तबतक हम पूर्ण रूप से नहीं जान सकते जबतक। किसी मनोवैज्ञानिक द्वारा उसका सविस्तर विश्लेषण न हो और वास्तव में कोई भी विश्लेषक अचेतनावस्था की तहतक जाने में असमर्थ है। बहुधा हम कोई कार्य कर डालते हैं पर सचमुच यह नहीं जानते कि हमने ऐसा क्यों किया और उसका कारण क्या है। साधारण व्यक्ति कुछ क्षणों तक जानने को उत्सुक रहता है पर उसे कुछ काल में भूल जाता है।

एक विद्यार्थी था जो बहुत ही प्रखर बुद्धि का और तेज था। वह अक्सर चुपचाप बैठकर पढ़ता रहता। कुछ समय के बाद उठता और अपने साथियों को बड़ा तङ्ग करता, यहाँ तक कि घातक प्रहार करने लगता। वह इस प्रकार 'क्रिया-शक्ति' के वशीभूत होता था कि उसे अपने ऊपर कुछ भी अधिकार न रह जाता था। बहुत से व्यक्तियों ने बेंत का या अन्य बातों का भय दिखाकर उसका सुधार

करने की कोशिश की और यह चाहा कि वह अपनी 'क्रिया-शक्ति' पर 'इच्छा-शक्ति' द्वारा अधिकार स्थापित करे और अपनी आदत से बाज आये, लेकिन 'क्रिया-शक्ति' इतनी प्रबल थी कि 'इच्छा शक्ति का' उसपर कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता था। वह बुरा लड़का न था, न उसमें कोई बुराई ही थी। वास्तव में वह 'अस्वस्थ' था। इसकी दवा है मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

जिस प्रकार साधारण जीव जन्तुओं के छोटे शिशु अपनी शक्ति का सञ्चय और वृद्धि कुलेल द्वारा करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का बच्चा भी अपनी सञ्जीवनी शक्ति की वृद्धि के लिये शैशव काल में सब कार्य करता है। उसकी इच्छा, अवश्य ही अचेतन इच्छा, यह है कि वह इस संसार में रहे और संसार में रहने के लिये शक्ति का सञ्चय करे। उसकी अचेतन इच्छा-शक्ति उसे भोजन करने और अन्य आङ्गिक क्रियाएँ करने के लिये बाध्य करती है और इस प्रकार उसकी सन्तुष्टि का कारण होती है। वह ईश्वरीय विधान अथवा इच्छा के द्वारा सञ्चालित होता है, लेकिन एक प्रौढ़ व्यक्ति को वह दैविक इच्छा दानवी इच्छा जैसी ज्ञात होती है, इसी से अनेक माता-पिता शैशव काल में ही बच्चे की बेगवती इच्छा को अपने उपदेशों द्वारा रोकने लगते हैं। बच्चे का जीवन सैकड़ों बन्धनों में बँधा हुआ धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। संरक्षक की दृष्टि में उसकी इच्छा का कोई महत्व नहीं। उसे 'यह अच्छा है, यह बुरा है, यह उचित है, यह अनुचित है', की शिक्षा मिलने लगती है। अपने अनुभव

के विकास का कोई भी अवसर उसे नहीं प्राप्त होने पाता और उसकी स्वाभाविक इच्छाको मानवीय हिदायतोंका सामना करना पड़ता है। अनुभव बताता है कि सदाचारका उपदेश ही बच्चेके व्यवहार में विकृति लाता है क्योंकि जब उससे कहा जाता है कि अमुक काम मत करो तब उसकी प्रबल इच्छा उस कामके द्वारा होने वाली अनुभूति प्राप्त करनेकी होती है। सदाचारके विषयमें मौन रहने पर प्रायः वे बच्चे जो 'जटिल' बालक या 'प्राब्लेम चाइल्ड' कहलाते हैं अपनी उद्दण्डता भूल जाते हैं क्योंकि उन्हें पूर्ण व्यावहारिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है और उन्हें संरक्षककी आज्ञाके विरोधका अवसर ही नहीं मिलता।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सदाचार की शिक्षा बच्चों के लिये अत्यन्त घातक है। एक छोटे बच्चे से यह आशा करना कि वह स्वार्थी न हो, असम्भव है। प्रत्येक बच्चा आत्मश्लाघी होता है। संसार उसे अपना प्रतीत होता है। उसकी इच्छा करने की शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। उसे केवल इच्छा करनी पड़ती है और वह अपनेको सम्राट् समझने लगता है। बच्चे के पास यदि थोड़ी मिठाई है तो उसकी प्रधान इच्छा उसे खाने की होगी और माता की यह शिक्षा कि वह अर्द्ध भाग अपने छोटे भाई को दे दे, उस छोटे भाई के प्रति घृणा उत्पन्न करने में सहायक होगी और वह सदा अपने भाई को घृणा की दृष्टि से देखेगा। परोपकारी होना तो बच्चे अपने अनुभवों के द्वारा सीखते हैं और उनके विकास के साथ ही यह प्रवृत्ति उत्पन्न

होती है यदि उन्हें निःस्वार्थ होने की शिक्षा न दी जाय। एक प्रकार से परोपकार की भावना स्वार्थकी चरम सीमा है। परोपकारी वह व्यक्ति है जो दूसरों को प्रसन्न करना चाहता है जब कि वस्तुतः वह स्वयं अपने स्वार्थ की भावना को तुष्ट करता है। स्वार्थ की भावना को दबाने का अर्थ है बच्चे के हृदय में उसे और दृढ़ करना। एक अतृप्त इच्छा बच्चे के अचेतन मन में दृढ़ होकरस्थित हो जाती है और जिस बच्चे को निस्स्वार्थ होने की शिक्षा दी जाती है वह आगे चलकर जीवन में अत्यन्त स्वार्थी हो जाता है। सदाचार इस प्रकार स्वयं अपने ध्येय से च्युत और अपने ही सिद्धान्तों द्वारा पराजित होता है।

प्रश्न उठता है कि आखिर बच्चे उपदेशों के विरुद्ध क्यों कार्य करना चाहते हैं? इसका प्रधान कारण हैं विशुद्ध, निर्दोष बाल-इच्छाओं का दबाना और उनके मार्ग में रोड़े अटकाना। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चा अपनी बाल-इच्छाओं को दबाता जाता है और बच्चे के विकास के साथ वे ही इच्छाएँ या तो उसी रूप में प्रकट होती हैं या लक्षणों के रूप में प्रकट होने लगती हैं। एक चोर चोरी करता है; वह एक लाक्षणिक कार्य करता है और उसके उद्‌गम के विषय में यदि विचार किया जाय और उस व्यक्ति का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि बचपन में सदाचार के उपदेशों के द्वारा उसकी इच्छाएँ दबायी गयी थीं जो अब तस्करता के रूप में प्रकट हुई हैं।

बुरी आदतोंवाले बच्चे सचमुच दुखी प्राणी हैं। मनुष्य का

स्वभाव सामाजिक है। वह शीघ्र समाज के विरुद्ध नहीं होना चाहता। आत्मश्लाघी होना ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाने के लिए पर्याप्त है। तास्कर्य बुरा है क्योंकि समाज के द्वारा वह निन्दनीय कार्य समझा जाता है। साधारण व्यक्ति में समाज के विरुद्ध खड़े होकर कुछ करने का साहस नहीं होता।

मनुष्य जब अपना सच्चा रूप अपनी सच्ची भावना के द्वारा देखने के लिए कटिबद्ध होता है तब वह समाज के विरुद्ध विद्रोह कराता है। यह विरोध उत्पन्न होने का कारण है दो व्यक्तित्वों का द्वन्द्व। एक तो वह व्यक्तित्व जो स्वाभाविक है और दूसरा वह जो मनुष्यों के उपदेशों द्वारा निर्मित होता है और जब इन्हीं दो व्यक्तित्वों का द्वन्द्व अत्यन्त कटु हो जाता है तब मनुष्य की आत्मश्लाघा जिसे आत्मवाद भी कह सकते हैं, शैशवावस्था को प्राप्त हो जाती है। मनुष्य एक बात जानता है और उसने अनुभवों द्वारा अनुभूति प्राप्त की है कि उसका विचार सत्य है पर उसे वह दूसरी प्रकार से और गलत समझाया गया है। उस गलत धारणा के विरोध में वह सब कुछ करता है पर उस धारणा को हटा नहीं पाता और जब बच्चे की उन्हीं गलत धारणाओं को सत्य के द्वारा मनोवैज्ञानिक हटा देता है तब उसकी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और कुछ क्षणों में उसकी जो बुरी आदत थी वह गायब हो जाती है।

ऐसी गलत बातों की शिक्षा बच्चों को क्यों दी जाती है? पिता-माता कोई बात बच्चे से इसलिए छिपाते हैं कि वह सच्ची बात न

जान सके। उसके बदले में उसे बहकाने का प्रयत्न करते हैं और आदर्शवादी होना चाहते हैं। मानव जीवन की प्रवृत्ति पूर्णता की ओर है। यदि पूर्णता की इच्छा केवल स्वाभाविक आकाङ्क्षाओं के प्रति ही हो तो यह एक अद्वितीय इच्छा कही जाय। लेकिन अधिकतर आकाङ्क्षाएँ सङ्कीर्ण होकर व्यवहार क्षेत्र तक सीमित हो जाती हैं। प्रौढ़ों में यही इच्छा दूसरों को अच्छा बनाने की आकाङ्क्षा के रूप में परिणत हो जाती है। धर्मोपदेशक और शिक्षकों की प्रबल इच्छा दूसरे लोगों को पूर्ण बनानेकी रहती है। पर वास्तव में अप्रकट रूप से उन की आकांक्षा अपने को पूर्ण बनाने की ओरं रहती है। वे अनुभव करते हैं कि वे अपूर्ण हैं लेकिन अपने विषय में वे कटु सत्य का सामना नहीं कर पाते। परिणाम यह होता है कि वे अपने पड़ोसी या बालक को अपूर्ण समझ कर उसके उद्धार की कामना से उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं।

बच्चोंके मार्ग-प्रदर्शन का अर्थ है अपना मार्ग-प्रदर्शन। हम लोग अप्रत्यक्ष रूप से बच्चे से अपनी समानता स्थापित करते हैं और उस बच्चेको अत्यधिक घृणा की दृष्टि से देखते हैं जो अपनी ही तरह का है। हम दूसरों में उसी बात के लिए घृणा प्रदर्शित करते हैं जो हम में है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने को घृणा की दृष्टि से देखता है और इसलिए बेंत और बातों से वह बच्चे को सुधारने का भगीरथ प्रयत्न करता है।

हम अपने को क्यों घृणा की दृष्टि से देखते हैं? इसका उत्तर है

अस्वाभाविक शिक्षा-चक्र। हमारे संरक्षकोंने हमारी स्वाभाविक प्रकृति का मूलोच्छेदन कर अस्वाभाविक उपदेशों द्वारा हमारा अस्वाभाविक सुधार करना चाहा और हमें एक द्वन्द्व या रोग सौंपा—वह है स्वाभाविक बुद्धि और उपदेशों का सङ्घर्ष। और यह सङ्घर्ष अपनी बार हम धरोहर समझ कर आगामी समाज को सौंपने के लिए उतावले रहते हैं और उन्हें सौंप कर हम आदर्शवादी बनने का प्रयत्न करते हैं। शताब्दियों से आदर्शों और उपदेशों का प्रभाव नहीं पड़ता रहा है, उसका प्रधान कारण है उपर्युक्त सङ्घर्ष अथवा रोग। हम हमेशा यही कहते हैं 'इस जीवन में तो हम पूर्णता को न प्राप्त कर सके। कदाचित् दूसरे जीवन में पूर्ण हों।'

कमी और कल्पना

कल्पना की कमनीयता में भला किसको संदेह हो सकता है। कवि कल्पना के द्वारा विश्व का कोना कोना झाँक आता है, और अपनी कल्पना को ग्रंथों के रूप में साकार करता है। कलाकारों की अमर रचनाओं का जन्म तो पहले पहल कल्पना के रूप में ही होता है। ताजमहल भी, जो आज भारतीय कला का ताज है, पहले शिल्पी के मस्तिष्क में कल्पना के रूप में ही उदित हुआ होगा। हिंदू विश्वविद्यालय की कल्पना महामना मालवीय के मस्तिष्क में युवावस्था में ही हुई थी। उस समय सब उन्हें केवल पागल ही तो कहते थे। लेकिन कल्पना के भी भिन्न प्रकार हैं। एक साधारण प्राणी कल्पना लोक में विचरण कर लौट आता है, पर एक पागल कल्पना लोक में जाकर वहीं स्थित हो जाता है। यही साधारण और विक्षिप्त व्यक्तिओं की कल्पना में विभेद है। कल्पना के जन्म का क्या कारण है ?

अधिकतर मानव जीवन में कल्पना का जन्म कमी के कारण होता है। जब मनुष्य को अपने किसी भी क्षेत्र में किसी कमी का अनुभव होता है तो उस समय वह अपनी कमी की पूर्ति कल्पना के द्वारा करता है। ये कल्पनाएँ लाभप्रद तो हैं ही साथही ये मनुष्य के जीवन को सार्थक भी बनाने वाली होती हैं। बालक के जीवन में कल्पना का बड़ा महत्व होता है। कोई भी बच्चा बिना कल्पना

के नहीं रह सकता। जब एक बच्चा अपने पिता को हुक्का पीते देखता है तो वह स्वयं अपने पिता के कार्य की नक़ल करता है और हुक्का पीनेका अभिनय करता है। हुक्का पीने का अभिनय करना ही उस बच्चे को, अपने को, बड़ों की श्रेणी में कल्पित कराने के लिए पर्याप्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार घोड़े पर चढ़े हुए व्यक्ति को देख कर, लकड़ी या डंडे का घोड़ा बनाकर उस पर चढ़ने का, और हाँकने का अभिनय, अव्यक्त रूप से बच्चे को बड़े होने की कल्पना कराता है। लड़कियों का गुड़ियों का खेल, शादी, विवाह आदि कराना, सब प्रौढ़ जीवन की केवल कार्य कल्पना ही तो हैं। ऐसी कल्पना के अतिरिक्त एक दूसरी प्रकार की कल्पना भी होती है जो केवल कल्पना की उड़ान ही होती है। इस कल्पना की उड़ान में बालक का उड़ना अस्वस्थता का चिह्न है।

जब बच्चा अपनी स्थिति दूसरे के सामने हेय पाता है उस समय वह कल्पना की उड़ान के द्वारा अपनी समता उन बच्चों के साथ करता है जो उससे बढ़े चढ़े होते हैं। इस समता के भाव को उत्पन्न करने के लिए जब उसे आवश्यकता पड़ती है तब, अपने को हेय समझने वाला बच्चा, कल्पना के द्वारा, और कल्पना का सहारा लेकर, संतुष्ट होता रहता है। लेकिन यथार्थ स्थिति तो उसकी वही रहती है। कल्पना की सहायता से वह कोई रचनात्मक कार्य भी नहीं कर पाता और इस लिए अपनी हीनावस्था हटाने का भी वह प्रयत्न नहीं करता, क्यों कि कल्पना की सहायता से तो वह सबके सम है ही।

कल्पना का क्षेत्र असीम है। किसी भी सीमा तक एक व्यक्ति कल्पना कर सकता है। कल्पना के द्वारा एक रंक अपने को विश्व का रक्षक और स्वामी समझ सकता है। यदि वह चाहे तो अपने को विधाता ही समझ ले। कोई उसकी इस कल्पना में बाधा नहीं पहुँचा सकता। लेकिन इस प्रकार की कल्पना से न तो उसको आर्थिक या शारीरिक लाभ होता है और न उसका मानसिक विकास ही हो पाता है; पर इनका मूलोच्छेदन तब तक संभव नहीं जब तक कि उनका ध्यान दूसरी ओर न ले जाया जाय। बिना दूसरी ओर ध्यान आकर्षित किये बच्चों की कल्पना नष्ट करने का प्रयत्न हानिकर होता है।

स्कूलों में या घरों में वे ही बच्चे काहिल या सुस्त समझे जाते हैं जो कल्पना-प्रवण होते हैं और कल्पना जगत में विचरण करते रहते हैं। एक बालक जो हवाई जहाज़ में उड़ने की कल्पना कर रहा हो भला इतिहास या भूगोल का मनन कैसे कर सकता है?

इन कोरी काल्पनिक उड़ानों को दूर करने का भी एक तरीक़ा है। यदि बच्चों से उनकी कल्पना की कहानी कहला ली जाय और इसकी आदत डाली जाय तो कुछ दिनों में धीरे धीरे वे कल्पना की उड़ान की मधुरता भूल जाते हैं। दूसरी बात एक और है जिसके द्वारा कल्पना की उड़ान का निराकरण हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसी सुविधाएँ होनी चाहिए जिसमें वह अपनी प्रधानता का अनुभव कर सके। कक्षा में दो श्रेणीके ऐसे बच्चे होते हैं जिनको

इसका अनुभव होता है। एक तो वह बच्चा जो सबसे तेज़ है और दूसरा वह जो सब से कमज़ोर है। एक की उच्चता यथार्थ की उच्चता है और दूसरे की काल्पनिक उच्चता है। प्रत्येक प्राणी में, उच्चता का भाव स्थित रहना, मानवीय आवश्यकता है। अहंकार को प्रधानता मिलनी ही चाहिए। बहुत से घरों में, बच्चों के इस अहंवाद का हनन, उन्हें कभी ज़िम्मेदारी न सौंप कर किया जाता है। इससे भी वे काल्पनिक लोक के प्राणी हो जाते हैं। बच्चों को, उनके विषय में पूर्ण जिम्मेदारी सौंप दी जानी चाहिए, तभी वे कल्पना प्रधान व्यक्ति न होंगे। पूर्ण जिम्मेदारी का अर्थ यह नहीं कि शिशु को आग से भी खेलने दिया जाय। हाँ, यदि आग के स्पर्श द्वारा बच्चा उसकी जलाने की शक्ति का अनुभव प्राप्त करना चाहता है तो उसे अवश्य ही इसका अनुभव प्राप्त होने देना चाहिए। जहाँ बच्चों के जीवन मरण का प्रश्न हो वहाँ उनका ध्यान सुचारु रूप से दूसरी ओर आकर्षित किया जा सकता है।

लेकिन तथ्य तो यह है कि हम वस्तु को बच्चों से अधिक महत्व देते हैं। एक पिता अपने बच्चे को बहुत सी चीज़े नहीं छूने देता। नित्य प्रति, यदि आप ध्यान दें, तो ज्ञात होगा कि बच्चे की बलवती इच्छा का अवरोध और विरोध किया जाता है। 'यह क़लम मत छूना। हमारी घड़ी क्यों छूता है टूट जायगी।' इस तरह बहुत सी 'राजाज्ञाओं' द्वारा, बच्चे को जीवन में, माता पिता की अज्ञातावस्था में ही कमी का अनुभव होने लगता है।

हम, कर्मी अपनी चीज़ों को जल्दी दूसरे को व्यवहार में लाने के लिये देना पसन्द नहीं करते, इस लिए कि वे हमारे जीवन की एक अंग होती हैं और उनका नष्ट होना हम पसन्द नहीं कर सकते। हम उन्हें अपना एक आवश्यक अंश समझते हैं। साथ ही हमारा अहंवाद—यह चीज़ हमारी है—किसी को चीज़ छूने देना पसन्द नहीं करता। यह 'हमारे' की भावना पहले पहल बच्चे को कर्मी का बोध कराती है।

बहुत से माता पिता कह सकते हैं—'वाह साहब भला इस प्रकार बच्चे का हम कहाँ तक ख्याल करें और उसके लिए कितना नुकसान सहें"। सच है, साधारण श्रेणी क्या बड़े बड़े घरों में भी भला बच्चों को इस प्रकार की स्वतंत्रता—चीज़ों का प्रयोग करने के लिए—कैसे दी जा सकती है। इसीलिए खिलौनों का निर्माण हुआ है। यदि बच्चों को आप ठीक मार्ग पर चलाना चाहते हैं तो बिना नैतिकता की भावना के आप जो भी करें ठीक है। लेकिन बच्चे को सुधारने की भावना या उसे अपने से छोटा समझने की भावना का आप अवसर न दें, क्यों कि, प्रत्येक वार जब आप बच्चे के कार्य को बच्चे के लिए, स्वयं कर देते हैं, तो उसके जीवन के जन्मजात एक अंकुर—कौतूहल—का आप सर्वनाश करते हैं। प्रत्येक घर में ऐसे अर्ध-पक्व बुद्धि के प्राणी हैं जो बच्चों के कौतूहल को अपना ही कौतूहल बना लेते हैं और बच्चा एक कौतूहल हीन और कर्मी और कल्पना प्रवण प्राणी हो जाता है।

कौतूहल और धुन

सहज, स्वाभाविक और अप्रभावित बुद्धि बड़ी जिज्ञासु होती है। शैशवावस्था से ही मनुष्य के जीवन-विकास के साथ ही जिज्ञासा की भावना तीव्रतर होती जाती है। परन्तु जिज्ञासा का विकास तभी पूर्ण रूपेण सम्भव है जब कि वह बाह्य और आन्तरिक प्रभावों, वातावरणों और व्यक्तित्वों से अप्रभावित रहे। जैसे ही जिज्ञासा अथवा कौतूहल पर बाह्य परिस्थितियों अथवा व्यक्तियों का प्रभाव पड़ता है, उसमें शैथिल्य की मात्रा धीरे-धीरे अधिक होती जाती है। कौतूहल के मार्ग में यदि प्रारम्भ से ही बाधाएँ आने लगती हैं, तो कुछ दिनों के बाद मनुष्य अथवा बच्चे के जीवन में कौतूहल या जिज्ञासा का कोई चिह्न भी नजर नहीं आता; बल्कि ऐसे अवसरों पर जब कि वह अपनी जिज्ञासा द्वारा ज्ञानार्जन कर सकता है, अपनी जिज्ञासा को प्रकट करने में वह अपना अपमान समझने लगता है।

शिशु का जीवन निर्विकार, आडम्बर-शून्य तथा अप्रभावित होता है, इसलिए वह परम जिज्ञासु या कौतूहल-युक्त प्राणी होता है। संसार की कोई भी वस्तु बिना उसकी आलोचना के, उसके नेत्रों के सम्मुख से नहीं गुजर सकती। जो कुछ भी वह देखता है, उसके विषय में वह अनेक प्रश्न करता है, और प्रश्नों की झड़ियों से

वह अपनी जिज्ञासा या कौतूहल तृप्त करता है। इसलिए यदि हम विचारपूर्वक ध्यान दें, तो हमें ज्ञात होगा कि बालक अथवा मनुष्य के जीवन, ज्ञान और अनुभव के विकास का आधार एकमात्र जिज्ञासा ही है। इसी कारण जिज्ञासा का और भी महत्व बढ़ जाता है। लेकिन यदि हम अपने दैनिक जीवन का विश्लेषण करके देखें, तो हमें ज्ञात होगा कि हम इस कौतूहल अथवा जिज्ञासा को वह महत्व नहीं देते, जो वास्तव में हमें देना चाहिए।

जब कभी आपका छोटा बच्चा आपकी गोद में बैठकर प्रश्नों की झड़ी लगाने लगता है और पूछता जाता है—'बाबूजी इसके आगे क्या हुआ; फिर और क्या हुआ; फिर ऐसा क्यों हुआ?' तो हम-आप झुंझला जाते हैं और कह उठते हैं—'फिर तुम्हारा सर हुआ, बड़ा बकवादी है। टें-टें-टें करता रहता है।'

इस पर जब बच्चा अपनी भोली आँखें आपकी तरफ उठाकर देखता है, तब क्या आप कभी इस बात का अनुभव करते हैं कि आपने बच्चे के भोले जीवन-वृक्ष पर कितना कठिन कुठारा-घात किया है? क्या आपने कभी यह विचार किया है कि जब बच्चे के प्रश्न के उत्तर में आप यह कह देते हैं 'जब तुम बड़े होगे तब ये बातें जान जाओगे' तब आप उसके जीवन के विकास में कितने घातक हो रहे हैं?

ये ऐसी साधारण बातें हैं कि हमारा-आपका ध्यान कभी इस ओर नहीं जाता। कभी-कभी ध्यान न जाने का कारण अपना

अज्ञान और दंभ भी है। कभी-कभी बच्चे ऐसे प्रश्न करते हैं कि उनका उत्तर देना ज़रा कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था मे पिता या अभिभावक अपनी कमज़ोरी छिपाते हुए बालक की बुद्धि पर अपने बड़प्पन की छाप छोड़ने का प्रयत्न करते हैं।

अभिभाविकों के ऐसे प्रश्नों अथवा जिज्ञासाओं के अतृप्त रखने से बच्चों के जीवन पर वही प्रभाव पड़ता है, जो कि एक उगते हुए पौधे की हर बार निकलती हुई नवीन फुनगी को तोड़ या नोचकर फेंक देने का। जिस प्रकार नवीन किसलयों के नोंच देने से पौधे का पनपना या विकास असम्भव है, उसी प्रकार बालक भी जिज्ञासा-हीन प्राणी हो जाता है और अपनी जिज्ञासाओं को तृप्त करने की ओर उदासीन हो जाता है। वह कल्पना प्रवण व्यक्ति हो जाता है और भविष्य में ज्ञानार्जन की कल्पना करता रहता है और संतुष्ट रहता है। उसके लिए वर्त्तमान का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। निश्चित को छोड़ अनिश्चित की ओर, यथार्थ को छोड़ काल्पनिक की ओर ही सदा उसका ध्यान रहने लगता है। इन जटिल परिस्थितियों से आवृत्त हो जाने के कारण बालक का जीवन एक पहेली हो जाता है।

इस कौतूहल का जिज्ञासा या अपने सम्पर्क में आनेवाली वस्तुओं के साथ प्रगाढ़ परिचय की कामना और धुन में बड़ा सम्बन्ध है। जिस प्रकार बच्चा वस्तुओं के ज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रश्न पर प्रश्न पूछता जाता है और जब तक उसे संतोष नहीं मिलता वह

'क्यों और कैसे' का साथ नहीं छोड़ता, उसी प्रकार बच्चा अपने आस-पास के व्यक्तियों के कार्य-कलाप का भी अभिनय द्वारा ज्ञानार्जन करना चाहता है। जब तक कि बड़ों के कार्यों का बच्चे अनेक बार अभिनय नहीं कर लेते, वे संतुष्ट नहीं होते।

छोटे-छोटे बच्चे रंगीन कागज़, मिट्टी, पानी आदि से बड़ा स्नेह करते हैं। इन वस्तुओं से सम्बद्ध जितने कार्य होते हैं, या जितने कार्यों को वे अपने घर में माता-पिता को करते देखते हैं, उन सबको करने की धुन उन्हें सवार रहती है। एक बचा जिसने अपने पिता को साबुन से हाथ धोते देख लिया है, वह तब तक नित्य पानी में साबुन डुबा-डुबा हाथों पर मलता रहेगा, जब तक कि उसका जी ऊब न जाय। यही अवस्था मिट्टी अथवा कागज़ से खेलनेवाले बच्चों की भी होती है।

यदि यही धुन पूरी नहीं होने पाती, तो आगे चलकर यह एक प्रकार की अस्वस्थता का रूप धारण कर लेती है। एक बार एक दस या बारह वर्ष का विद्यार्थी विदेश के किसी स्कूल में पढ़ता था। यदि वह जरा भी एकान्त पाता तो अपने सहपाठियों की पुस्तक और वस्त्रादि फाड़ने लगता और अधिकतर उसका समय ऐसे ही विध्वंसक कार्यों में व्यतीत होता था। कक्षा के कार्य में वह कोई दिलचस्पी नहीं लेता था। इस कठिनाई और बुरी लत से आजिज़ आकर उसके माता-पिता तथा छात्रालय के संरक्षक ने उसे एक मनोविज्ञान वेत्ता के पास भेज दिया।

उसने उसके जीवन के पूर्ण इतिहास का जब विवेचन किया तो उसे ज्ञात हुआ कि जब वह छोटा था तब उसे कागज फाड़ने का बड़ा शौक था ; पर गन्दगी से बचाने तथा बच्चे को बुरी लत न लग जाय, यह विचार कर उसके माता-पिता ने उस पर बहुत ही कड़ा नियन्त्रण रखा। जब तक वह माता-पिता के संरक्षण में रहा, उसकी यह इच्छा दबी रही। पर छात्रालय में आने पर और थोड़ी स्वतन्त्रता मिलने पर बच्चे की उस दबी इच्छा ने भयंकर रूप धारण कर लिया।

वह विज्ञान वेत्ता बच्चे को गुदड़ी बाज़ार ले गया और वहाँ उसने उसके चारों तरफ़ कागज़ों का ढेर लगा दिया।

बालक अपने को कागज़ों के बीच पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और जब वैज्ञानिक ने उस लड़के को उन कागज़ों के छोटे-छोटे टुकड़े कर उन्हें फाड़ डालने का कार्य दिया, तब तो उसने बड़ी ही लगन के साथ कागज़ फाड़ने का यह कार्य किया पर कुछ दिनों के बाद उसका जी इस कार्य से ऊब गया और उससे अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश करने लगा। जब मनोवैज्ञानिक ने देखा कि यह अब पूर्ण तृप्त हो गया है तो उसे उसने फिर छात्रालय भेज दिया। इसके बाद विद्यार्थी की पहले जैसी कोई भी शिकायत नहीं सुनी गयी।

इस उदाहरण से बच्चों की आदत का सुधार बड़ा साधारण-सा प्रतीत होता है ; पर वास्तव में आदतों के कारण का पता

लगाने में ही कभी-कभी बड़ा समय लग जाता है और बहुधा साधारण गंदी आदतों के सुधारने में ही मनोवैज्ञानिकों को वर्षों लग जाते हैं।

शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में बच्चों की धुन और जिज्ञासाओं की तृप्ति होने देने में ही कल्याण है। यदि बच्चा मिट्टी से खेलकर अपना शरीर गन्दा कर लेता है, तो हानि क्या है ? वह अपना जीवन जटिल और गन्दा तो नहीं बनाता। हम-आप उसको अपने श्रम से बचने के लिए ही शारीरिक गन्दगी से बचाने के प्रयत्न में उसके जीवन को ही गंदगी से आवृत्त कर देते हैं।

बच्चों की हर जिज्ञासा और धुन को तृप्त करना बहुत ही आवश्यक है—यहाँ तक कि आप बच्चों को तारे तोड़कर भी देने का प्रयत्न कीजिए, अन्यथा ये अतृप्त जिज्ञासाएँ और धुन बच्चे को जीवन के सभी क्षेत्रों में असंतुष्ट रखेंगी और बच्चों का जीवन निराशाओं का केन्द्र हो जायगा। उसे अपने किसी भी कार्य से न तो संतोष ही हो पायगा और न वह सुखी ही हो सकेगा। कभी-कभी ये ही असंतुष्ट जिज्ञासाएँ, कौतूहल और धुन बच्चों को अनेक भ्रष्ट मार्गों पर ले जाकर उनके जीवन को और भी जटिल बना देती हैं और बालक या व्यक्ति अपने और समाज के लिए एक पहेली हो जाते हैं।

धार्मिक शिक्षा और बालक

धार्मिक अभिभावकों द्वारा पालित बच्चों में एक विचित्र स्वभाव वैचित्र्य का दिग्दर्शन होता है। धार्मिक वातावरण के बीच पले बच्चे गुप्ताङ्गिक क्रियाओं को आवश्यकता से अधिक महत्व देने के लिए बाध्य किए जाते हैं। उन अभिभावकों की दृष्टि में ये क्रियाएँ ऐसी दुष्टा समझी जाती हैं जो बच्चे को स्वर्ग के मार्ग से भटकाकर नरक की ओर ले जाने वाली समझी जाती हैं। बालक उन क्रियाओं के द्वारा पाप कर्म करता सा प्रतीत होता है और तुरंत ही धर्म की आड़ ले कर ईश्वर की दुहाई देकर पश्चात्ताप करने का और अपनी मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है और इस साधन को वह इतना साधारण समझ लेता है कि बार बार उन कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है और क्षमा माँगता है।

किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा बालक के लिए घातक है। क्यों? इस लिए कि वह सर्व प्रथम भौतिक पाप की कल्पना कराती है। प्रत्येक शिक्षा उस बच्चे को उसके स्वाभाविक जीवन की सतह से ऊपर उठाने का प्रयत्न करती हैं। सब धर्मों की शिक्षाएँ शरीर के प्रति उपेक्षा का भाव और आत्मा के प्रति स्नेह के भाव आपमें उत्पन्न करने की चेष्टा करती हैं। प्रत्येक धर्म के सिद्धान्त बालक के स्वाभाविक जीवन के प्रति असन्तोष उत्पन्न करते हैं।

यदि आप किसी व्यक्ति से ईश्वर के विषय में प्रश्न करें और पूछें—ईश्वर कौन है ? तो वह अनेक प्रकार से आपके हृदय में यह धारणा उत्पन्न करना चाहेगा कि ईश्वर के विषय में उसे सब ज्ञातव्य बातें ज्ञात हैं और उसे ईश्वर के प्रति अगाध स्नेह है पर जब अधिक प्रश्न होने लगेंगे तो वह फौरन कहेगा कि 'भई' ईश्वर अचित्य है और वह बुद्धि और इस शरीर तथा चर्म चक्षुओं के परे है दिव्य दृष्टि उत्पन्न करो तब कहीं कुछ अनुभूति होगी। पर फौरन इसके बाद वह आप के मार्ग में एक खाई और ला खड़ी करेगा और कहेगा कि फिर यह तो पूर्व जन्म के संस्कार की भी बात है। पूर्व जन्म की बात के सामने सारे मार्ग बन्द हो जाते हैं। पर यदि आप सूक्ष्म रूप से विचार करें तो ईश्वर को प्रेम करने या न करने की बात जो सुनने में आती है वह अधिकतर प्रचलित धारणाओं, प्रचलित विचारों और संस्कारों की कोरी छाप है। किसी भी बच्चे को या युवक को इस ईश्वरीय विषय की कोई भी अनुभूति नहीं होती। सच्ची बात तो यह है कि बालक या अपने को धार्मिक कहने वाला व्यक्ति ईश्वर को स्नेह की दृष्टि से न देख कर भय की दृष्टि से देखता है। ज़रा सा भी जब वह अपने रूढ़िगत विचारों के विरुद्ध कुछ करने का साहस करता है तो ईश्वर पंचमाक्खियों की भाँति उसे हर जगह नज़र आने लगता है और वह हमेशा उससे आतंकित रहता है।

तो संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बालक के जीवन में ईश्वर

की, पाप पुण्य की कल्पना या विचार पहले।पहल भय उत्पन्न करने के लिए ही उत्पन्न कराया जाता है। भय से परिचय कराना बच्चे के लिये अत्यंत घातक है क्योंकि भय ही बालक के उगते हुए जीवन वृक्ष का दीमक है। भय ही बालक को भीरु बनाता है और जीवन का एक भयानक दृश्य सम्मुख ला खड़ा करता है। इस प्रकार यदि हम देखें तो धर्म हमें सबसे प्रथम भीरु बनाने में सहायक होता है।

सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि धर्म की नींव या जड़ कितनी गहराई तक गई है यह बात समझ में नहीं आती और कल्पना का उद्गम धार्मिक बातों में कहाँ से प्रारंभ होता है यह भी संदिग्ध है। आज, ईश्वर, जो हमें पाप का दण्ड और पुण्य का पुरस्कार देता है धर्म की वस्तु नहीं रहा वह केवल कल्पना की चीज़ रह गया है। मनुष्य के सद्गुणों के प्रतीक की कल्पना आकाश में हुई और मनुष्य के दुर्गणों के प्रतीक की कल्पना पाताल में हुई। इस प्रकार देव और दानवों के संसार की उत्पत्ति हुई। ईश्वर इच्छा पूरक हुआ और दैत्य भय पूरक घोषित किया गया। इन दोनों का जब मिश्रण हुआ तब आनन्द और दुःख की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ।

सांसारिक सुख और संसार की सारी वस्तुएँ दुःख जनक और दैत्यों के पल्ले की चीज़ हुई। धार्मिक होने का अर्थ संसार के सुखों से विरक्त होना प्रचारित किया गया। हमारे भजन आर्तनाद हुए। धार्मिक होने का अर्थ हुआ जीवन को करुणा पूर्ण बनाना। पर

समय बदला। आज गायत्री जाप एक बोझ ज्ञात होता है और केवल कर्तव्य की दृष्टि से ही लोग करते हैं। जो उत्साह सिनेमा जाने में प्रदर्शित किया जाता है उसका शतांश भी धार्मिक कार्यों में उत्साह नहीं दिखाई पड़ता। सिनेमा के लिए रात भर जागना आसान ज्ञात होता है पर सत्यनारायण की कथा प्रारंभ हुई नहीं कि जमुहाइयों का आक्रमण प्रारंभ होने लगता है और बकासुर की भाँति मुख फाड़ने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है।

वास्तव में, संगठित रूप में धर्म की आधार भित्ति आज जर्जर हो गई है। हमारे जीवन के कलह, द्वन्द्व, ईर्ष्या, स्पर्द्धा आदि के निराकरण का कोई भी तो प्रयत्न आज धर्म नहीं कर रहा है जिससे उसकी उपयोगिता का लोहा माना जाय। आज हम लोगों में एक विचित्र संदेह उत्पन्न हो गया है और सभी प्रश्न करते हैं कि आखिर मृत्यु के बाद है क्या?

कितने अभिभावक ऐसे हैं जो वास्तव में ईश्वर को अन्याय और न्याय को पृथक करने वाला, स्वर्ग और नरक के जन्मदाता के रूप में मानते हैं? ऐसों की संख्या अत्यन्त अल्प है। फिर भी हम अपने बच्चों के जीवन को प्राचीन आतंक उत्पादक कथाओं के द्वारा बोझिल कर देते हैं। हमारे विचार से किसी भी बालक को धर्म की शिक्षा दी ही न जानी चाहिए। वह जब इस योग्य हो कि धर्म की बातों का पूर्ण विवेचन कर सके और उसकी बातों को पूर्ण रूप से समझ सके तब उसे धर्म की बातों में पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी

चाहिए। राष्ट्र के ही समान धर्म के जीवन में भी तो जन्म, युवा-वस्था वृद्धावस्था और मृत्यु आती है। भावी समाज धर्म के रूप को इसी रूप में मानेगा इसमें संदेह है। वह समाज सचमुच सत् चित् आनन्द रूपी ईश्वर की कल्पना करेगा और पाप या नरक को पास न फटकने देगा। आजका एक धार्मिक व्यक्ति अपना समय, अपने सारे सांसारिक कार्यों को भूलकर केवल ईश्वर को यही बत-लाने में बिता देता है कि वह कितना बड़ा भक्त है और ईश्वर को प्रेम करता है। लेकिन यह भूल जाता है कि ईश्वर ने उसे संसार में किस कार्य के लिए भेजा है और उसे ईश्वर का क्या कार्य करना है।

कुछ काल पर्यन्त धार्मिक शिक्षाएँ शरीर और आत्मा में विभेद न मानेंगी। इस बात की घोषणा होगी कि शरीर के प्रति उदासीन रहना उतना ही बड़ा पाप है जितना आत्मा के प्रति। ईश्वर की प्राप्ति सांसारिक जीवों के मध्य में रहने पर और अपने दैनिक कार्यों के करते रहने पर भी होगी। ईश्वरका स्थान आकाश न होकर यह पृथ्वी ही होगी और दैत्यों का कोई अस्तित्व न होगा। वास्तव में दैत्य या दानवी इच्छा तो कुछ है नहीं। वह तो वह ईश्वरीय शक्ति है जो वाह्य प्रभावों के द्वारा विकृत कर दी जाती है।

यदि हमें बालक की इच्छा शक्ति को प्रबल रखना है तो हमें अच्छे, बुरे के ज्ञान की शिक्षा देने की आवश्यकता ही नहीं

क्योंकि सभी में ईश्वर का निवास है और प्रत्येक बालक को साँचे में ढालने का अर्थ है ईश्वरीय शक्ति को दानवी शक्ति के रूप में परिवर्तित कर देना। स्वतन्त्रता के द्वारा धर्म की जो धारणा उत्पन्न होती है वह हमेशा अच्छाई को ही जन्म देगी क्यों कि वहाँ देव और दानवों के द्वन्द्व की आवश्यकता ही नहीं होती।

आज ईश्वर एक वाह्य सहायता समझा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी सहायता के बिना मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता और इसलिए उसकी बहुत आवश्यकता है। फिर ईश्वर को ही तो वह पाप और पुण्य का प्रेरक बतला कर अपनी मुक्ति करा लेता है। इस प्रकार मनुष्य पाप करता है क्योंकि वह उसके भाग्य की रेख है और अपनी रक्षा भी उसी की सहायता से करता है। संभव है कि एक समय ऐसा आवे जब मनुष्य को अपनी कठिनाइयों, अपने जीवन के बोझों को स्वयं सहज़ करना और उठाना पड़े और कोई भी बाह्य शक्ति उसे सहायक न प्रतीत हो। तब वह साहस के साथ सब प्रकार के संघर्षों का सामना करेगा। अपनी आत्मा के निर्मल स्वरूप का दर्शन ही तो स्वाभाविक धर्म है। पाप के बाद क्षमा पाना तो साधारण सी बात है पर पाप कर्म के फल को साहस पूर्वक भोगने की मनोवृत्ति रखना एक दूसरी बात है। भावी समाज को कदाचित पाप की कल्पना भी न होगी और इससे भी कठिन कार्य उसका होगा—बिना किसी वाह्य सहायता की आशा के स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करना। एक धार्मिक या धर्म भी अपने

कुकर्मों और सुकर्मों का प्रेरक ईश्वर को बना कर किनारा काटना चाहता है और उत्साह का नाश कर अकर्मण्य हो जाता है।

जब मनुष्य यह अनुभव करेगा कि ईश्वर आकाश में नहीं पृथ्वी पर रहता है और ईश्वर भी मनुष्य ही है तब उसे उत्साह होगा और वह अपने कर्मों के साथ पूर्ण न्याय कर सकेगा। मनुष्य स्वयं अपनी आत्मा का पथ प्रदर्शक होगा और इस बात का अनुभव करेगा कि वही अपना भाग्य विधाता है।

आज पाश्चात्य देशों में ही क्यों हमारे यहाँ भी नये समाज, धर्म के नये रूप, नयी शिक्षा, नये आदर्शों और नवीन आर्थिक नियमों की खोज हो रही है। क्यों? इसका प्रधान कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना विश्लेषण कर रहा है। वह सब चीजों में अच्छाई की प्रार्थना कर रहा हो ऐसी बात नहीं बल्कि वह मनुष्यों के कार्यों का भार मनुष्य पर ही डालने की सोच रहा है। जब ईश्वर आकाश में है तो स्वाभाविक है कि पृथ्वी पर सभी गड़बड़ियाँ या अव्यवस्थाएँ हों पर जब हम ईश्वर को इस पृथ्वी का ही समझें तब हमारी अव्यवस्थायें सुव्यवस्थाओं के रूप में परिणत हो जायेंगी।

यह हमारी गलत धारणा है कि इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद चरित्र गठन प्रारंभ होता है। हमारे चरित्र का निर्माण तो वस्तुओं से और इच्छाओं के द्वारा अनुभूति प्राप्त करने पर होता

हैं। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति का ईश्वर आकाश में है इसलिए उसे अपने को सुधारने का अवसर ही नहीं मिलता। वह अपने सुधार की जिम्मेदारी तो ईश्वर पर छोड़ देता है और स्वयं मनमाना कार्य्य करता है।

तृष्णा पर विजयी होना तो उच्चता की परिभाषा नहीं। उच्च होने के लिए तो आवश्यक है, तृष्णा के प्रति आकर्षण ही न हो; हमारे हृदय में किसी वस्तु के लिए तभी तृष्णा न होगी जब हम प्रत्येक वस्तु को स्नेह की दृष्टि से देखेंगे। प्रेम ही भय को हटा सकता है और वही व्यक्ति धार्मिक है जो ईश्वर की सृष्टि के अच्छे बुरे, छोटे बड़े, सबके प्रति स्नेह रखता है, तथा अपनी अच्छाइयों और बुराइयों तथा दूसरों की भी अच्छाइयों और बुराइयों से स्नेह करता है और सहिष्णु है!

प्रशंसा, निन्दा और बालक ।

संगीत से अनभिज्ञ एक व्यक्ति के सामने यदि कोई वाद्ययन्त्र रख दिया जाय और वह उसे न बजा सके, तो इससे वाद्ययन्त्र की सारहीनता नहीं प्रमाणित होती । वह अनभिज्ञ व्यक्ति वाद्ययन्त्र द्वारा केवल असम्बद्ध ध्वनि ही उत्पन्न कर सकेगा । उसकी सहायता से कोई भी रागरागिनी वह निकाल सके यह असंभव सी बात है । सब वस्तुओं की उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात हो यह आवश्यक नहीं । जो जिस वस्तु का विज्ञ होता है, उसी की दृष्टि में उस वस्तु की उपयोगिता होती है ।

आज कल अध्यापकों की कमी नहीं । जो भी जीवन में अपनी जीविका का प्रबन्ध न कर सका या जिसे कहीं भी स्थान न मिल सका वह शिक्षक होने के लिए प्रयत्न करना प्रारंभ कर देता है । ऐसा ज्ञात होता है, मानों शिक्षा-दान या अध्यापक का जीवन ऐसा सरल है कि 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' जो भी चाहें शिक्षक हो जाँय । भारतवर्ष में तो शिक्षा या शिक्षकों की यही व्यवस्था है । एक शिक्षक का महत्व एक कुली या एक चपरासी से थोड़ा ही अधिक समझा जाता है ।

शिक्षा संस्थाओं और बालकों के सुधार के पहले हमें नींव की गन्दगी ही साफ कर लेनी चाहिए । ऐसे अध्यापकों को जो

सचमुच रोजी न मिलने के कारण इस क्षेत्र में घुस आये हैं या घुसे आ रहे हैं, उनको हमें शिक्षा संस्थाओं से दूर रखने का प्रयत्न करना चाहिए। केवल ऐसे ही अध्यापकों द्वारा शिक्षा-दान या शिक्षण का कार्य कराना चाहिए जो वास्तव में शिक्षण के प्रति अनुराग रखते हों, और सचमुच शिक्षा प्रेमी हों।

बालक या बालिका एक ऐसा बोलता चालता यन्त्र है जिसकी इच्छाओं को आप जानते हुए और अपनी इच्छाओं को प्रकट करते हुए, उसके द्वारा ऐसे कार्य करा सकते हैं जो वास्तव में चकित कर देने वाले हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति आत्मश्लाघी होता है उसमें अहंकार की भावना होती है। फिर बालक तो आत्मश्लाघा और अहंकार का प्रतीक होता है। एक खुशामदी व्यक्ति क्या कम मनोवैज्ञानिक है जो आपके हृदतन्त्री के तार इस प्रकार झंकृत करता है कि आपके हृदय में गुदगुदी होने लगती है और वह आपके विषय में, या जिस विषय पर आप बात कर रहे हों, उसी विषय पर, वही विचार प्रकट करता है, जो या तो चेतनावस्था में या अचेतनावस्था में आप अपने विषय में सोचते हैं। खुशामद आखिर है क्या? एक व्यक्ति आपके सामने आता है। आप वास्तव में मूँजी हैं पर जब वह आपकी प्रशंसा के पुल बाँधने लगता है, या ऐसी बातें कहता है जो वास्तव में आप अपने विषय में अव्यक्तावस्था में सोचते हैं पर अपने स्वभाव से लाचार होने के कारण नहीं कर पाते, तो उस समय आपका हृदय खुशी से उछल

पड़ता है। बात यह है कि वह व्यक्ति आपकी आत्मश्लाघा का इस चतुराई से अध्ययन करता है कि आपको उसका पता भी नहीं चलता और जब वह आपकी आत्मश्लाघा का स्पर्श करता है उस समय आप कुछ न कुछ उदारता दिखाने को वाध्य हो जाते हैं।

यह तो अचेतनावस्था या अव्यक्त भावना का अभि-व्यक्तिकरण हुआ। क्योंकि आप सोचते कुछ हैं पर अपने स्वभाव के कारण अपने विचार के अनुसार कार्य नहीं कर पाते। लेकिन यदि आप थोड़े भी उदार हैं तब तो बात ही दूसरी हो जाती है। उस समय तो खुशामदी प्रत्यक्ष आपकी कमजोरी—जिसे आप उदारता कहते हैं जो वास्तव में उदारता नहीं केवल आत्म संतुष्टि या आत्मश्लाघा की संतुष्टि मात्र है—का स्पष्ट अनु-भव करता है। जहाँ वह इस बात का अनुभव कर लेता है तब तो आपकी आत्मश्लाघा को वह आपकी प्रशंसा कर के फौरन अपने वश में कर लेता है और अपने कार्य की सिद्धि करा लेता है।

यही खुशामद जब तक उचित सीमा के भीतर रहती है प्रशंसा कही जा सकती है। उचित और अनुचित की सीमा, काल पात्र और मनुष्य के आत्म गौरव या आत्मवाद से सम्बन्ध रखती है। हम आप सभी अपने बच्चे को 'राजा भइया' 'कन्हैया' 'मुन्ना' 'चुन्ना' आदि अनेक शब्दों द्वारा संबोधित करते रहते हैं और देखते हैं कि जब इन शब्दों या इन्हीं प्रकार के संबोधनों से हम

संबोधित करते हैं तो एक विचित्र प्रकार की प्रसन्नता उनके मुख पर खेलने लगती हैं। वास्तव में यह हम लोगों का स्नेह है, पर इस स्नेह को जो कि हृदय की वस्तु है हम प्रशंसात्मक शब्दों के द्वारा व्यक्त करते हैं। और देखते हैं कि 'अबे चुनऋाँ' से कहीं लाभप्रद चुन्नू राजा साबित होता है। यह नहीं कि जब हम 'अबे चुनुआँ' कहते हैं तब हमारा स्नेह बच्चे प्रति नहीं रहता। रहता है पर बच्चे के लिए तो व्यक्त बातों का अधिक महत्व होता है। वे आप के हृदय की बात क्या जानें।

बच्चों के जीवन में प्रशंसा का बड़ा महत्व है। प्रशंसा उनकी स्फूर्ति की वृद्धि करता है। यदि एक बच्चे से आप कहें 'शाबाश भाई! तुम बड़े बहादुर हो ज़रा यह काम कर तो लाओ!' तो ऐसे समय यदि वह उस कार्य को नहीं भी कर पावे तो कम से कम पूरा प्रयत्न अवश्य करेगा। लेकिन यदि उसी बच्चे से आप कहें 'जा बे बुद्धू! यह काम करला, बड़ा जाहिल है।' तो यदि वह कर भी सकता होगा तो भरसक यही प्रयत्न करेगा कि उसे न करे।

कार्य के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करने के लिए सुमधुर प्रशंसा की बड़ी आवश्यकता है। शिक्षा के समय भी, प्रशंसा के दो चार शब्द, बच्चों के हृदय में उत्साह का संचार करते हैं। साथ ही साथ प्रशंसक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों की प्रवृत्ति ऐसी न हो जाय कि वे अपनी प्रशंसा सुनने के लिए ही कार्य करें।

प्रशंसा इस प्रकार सामयिक होनी चाहिये जो केवल उत्साह बढ़ाये और अपने प्रति गलत धारणा उत्पन्न न होने दे।

प्रशंसा एक कल्पित धारणा पर आश्रित रहती है। बच्चों के जीवन में कल्पना का अधिक महत्व है। बहुत से बच्चे यथार्थ जगत से दूर कल्पना जगत में ही अपना समय व्यतीत करते हैं। ऐसे समय प्रशंसा की अधिकता बच्चे को काल्पनिक जगत का प्राणी बना देती है। वह बच्चा यथार्थ जगत की बातों से अनभिज्ञ ही नहीं बल्कि समाज का एक सुस्त और बेकार प्राणी हो जाता है।

अभिभावकों के एकलौते बच्चे की मनोवृत्ति पर विचार कीजिए। जिस माता पिता के एक ही पुत्र होता है उसकी विचित्र अवस्था होती है। वह महान स्वार्थी तो होता ही है साथ ही कल्पना का उसके जीवन में अधिक महत्व रहता है। बात यह है कि एकलौता बच्चा होने के कारण माता पिता उस बच्चे की उचित या अनुचित सभी बातों को शिरोधार्य करते हैं और वास्तवमें माता पिता की इच्छाओं का कोई भी महत्व नहीं रह जाता। घर का वह बच्चा ही पिता है। माता पिता की स्थिति साधारण घरों के पुत्र की स्थिति सी हो जाती है। माता पिता उचित अनुचित प्रशंसा द्वारा बच्चे को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते रहते हैं और उनकी प्रशंसा की उस सीमा तक पहुँच जाती है जो बच्चे के जीवन के लिए हानिकारक हो सकती है। जब तक वह बच्चा अपने घर के वातावरण में रहता है तब तक तो कम कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं

पर जैसे ही वह बच्चों के समाज में या उनके साथ नित्य प्रति के जीवन संघर्ष में आता है तब वह अपनी वह स्थिति नहीं पाता जो कि उसकी घर में होती है। इसलिए कल्पना के द्वारा वह अपनी पूर्व परिस्थिति या पूर्व वातावरण के कल्पना नीड़ में निवास करने लगता है। जब किसी व्यक्ति का समय काल्पनिक जगत में बीतने लगता है उस समय जीवन की यथार्थता में वह पिछड़ता चलता है। इसलिए आवश्यकता है कि एकलौते बच्चे का पालन पोषण 'उद्यान गृहों' में हो या और बच्चों के साथ रहने का उन्हें पूर्ण अवसर दिया जाय।

जिस प्रकार आत्मश्लाघा का स्पर्श प्रशंसा करती है और बच्चे के हृदय में स्फूर्ति का संचार करती है उसी प्रकार निन्दा भी एक विचित्र चीज़ है। अपनी जो कमज़ोरी हम जानते हैं, या हमारी जो कमजोरी हमारे हृदय में सुषुप्त है और प्रकट नहीं हुई है, यदि कोई उसका अनुभव करा देता है या अनायास ही उसके विषय में कुछ कह देता है तो हम बड़े दुखी होते हैं, क्योंकि हम अपनी कमज़ोरी अनुभव नहीं करना चाहते न उसकी आलोचना ही सुनना चाहते हैं। कारण हम आत्मश्लाघा प्रधान व्यक्ति हैं। हम अपनी कमजोरी की ओर देखने का साहस नहीं कर पाते। साधारण जीवन में निन्दा शब्द का प्रयोग केवल ऐसी बातों के लिए किया जाता है जिससे हमारा कोई भी संबंध नहीं रहता और हमारी उससे अप्रतिष्ठा होती है और जिसे समाज

के प्राणी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन बालक का संबंध केवल अपने बालकीय समाज से ही अधिक रहता है। ऐसी अवस्था में बच्चों की ऐसी निन्दा न करनी चाहिए जो बिलकुल असत्य हो। यदि उनके कार्य की निन्दात्मक आलोचना करना आवश्यक हो तो उसका बोध बच्चे को व्यक्तिगत रूप से करा देना ही परम श्रेयस्कर होता है।

निन्दा बच्चों के जीवन का रोड़ा है। इसके द्वारा वह अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो जाता है। उदासीन ही नहीं यह निन्दा उसके हृदय में दूसरों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करती है। बच्चे से यही कहना—'देखो वह कैसा अच्छा लड़का है। किस तरह से रहता है। एक तुम हो, कितने नालायक हो।' आदि बड़ा ही घातक होता है। वह बालक जिसकी इस प्रकार निन्दा की जाती है, उस प्रशंसित बालक को घृणा की दृष्टि से तो देखने ही लगता है साथ ही उसकी स्थायी मनोवृत्ति हो जाती है—घृणा। उसे प्रत्येक समाजिक वस्तु के प्रति विद्रोह करने के लिए घृणा सहायता पहुँचाने का प्रयत्न करती रहती है। यही घृणा जिसकी जननी निन्दा है, बच्चे को अपने कार्यों तथा सामाजिक नियमों के प्रति उदासीन बना देती है, और बालक समाज का एक जीवनरहित सदस्य होता है जो केवल जीने के लिए जीवित रहता है।

घृणा प्रेम और बालक

संसार में बहुत कम ऐसे अभिभावक होते हैं जो यह समझ पाते हैं कि दण्ड देकर वे बालक के प्रेम को घृणा की भावना में परिवर्तित कर रहे हैं। बालक के स्वभाव में घृणा का सूक्ष्म निरीक्षण करना अत्यंत कठिन है। अभिभावक दण्ड देकर— बच्चे को जो शान्त कर देता है—सोचता है कि उसने जो दण्ड दिया है वह उचित है और उसका कोई भी प्रभाव बच्चे पर नहीं पड़ता है। लेकिन दण्ड के द्वारा जो घृणा उत्पन्न होती है वह कभी निर्जीव नहीं होती। वह बालक के हृदय में चुपचाप, शान्त पड़ी रहती है और अपने को दूसरे क्षेत्रों की ओर ले जाने का प्रयत्न करती रहती है। यही दबी हुई भावना बच्चे को बुरे मार्गों की ओर अग्रसर कराती है और वह शनैः शनैः उदण्डता की सीमा की ओर जाता सा नज़र आने लगता है।

एक बच्चा अपने उस पिता को जो बहुत दिनों तक प्रवास में रहता है घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इसका प्रधान कारण यह है कि जब तक घर में पिता नहीं था बच्चा ही माता के स्नेह का केन्द्र था और जैसे ही पिता घर में आता है माता के स्नेह को वह विभाजित हुआ सा देखता है। बच्चा अपनी किसी भी वस्तु का बँटवारा या विभाजन पसन्द नहीं करता। वह अपने पिता को अपना

हक छीनने वाला समझ कर उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। अपने माता पिता को बच्चे घृणा की दृष्टि से देखते हैं यह बात सुनने में बड़ी आश्चर्य जनक प्रतीत होती है। लेकिन इस घृणा का वीजारोपण उसी समय से बच्चे के हृदय में होने लगता है जब वह बहुत अल्पावस्था का होता है और जब बच्चे का अहंवाद तीव्रतम होता है। छोटा बालक प्रेम और शक्ति इन दो चीजों की खोज में रहता है और माता पिता की प्रत्येक घुड़की अभिभावव का प्रत्येक थप्पड़, बड़े भाई बहनों का प्रत्येक बार अपनी चीजों को न छूने देने का प्रयत्न, ऐसी बातें हैं जो बच्चे के मार्ग में बड़ी भारी खाई ला खड़ी कर देती हैं और उन्हें घृणा की ओर आकर्षित करती हैं।

बच्चों के हृदय में अभिभावकों के प्रति घृणा होना उतना हानिकर नहीं जितना अभिभावकके हृदय में बच्चे के प्रति घृणा होना। बच्चों से—'फिर ऐसा तो न करोगे, कानतो पकड़ो, ऐसा नहीं करना चाहिए' आदि कहना अभिभावकों की, बच्चों के प्रति घृणा का अप्रत्यक्ष प्रदर्शन है। उन माता पिता के बच्चों में, जिनमें आपस में मनमुटाव रहता है, घृणा के बीज शीघ्रता से प्रस्फुटित होने लगते हैं। बच्चों का बड़े होने का, दाढ़ी मूछँ उगने का अभिनय आदिशक्ति का अप्रत्यक्ष प्रदर्शन होता है और वे इस प्रकार अपने को बड़ा बना कर, प्रतिकार लेने की तैयारी करते रहते हैं और उन्हीं सुविधाओं को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं

जो औरों को घर में प्राप्त हैं। एक बच्चा देखता है कि उसका पिता घर की सब अच्छी अच्छी चीज़ों पर अधिकार रखता है और उसे छूने तक का भी अधिकार नहीं होता। ऐसी अवस्था में उसे क्षोभ और घृणा दोनों के मिश्रण से उत्पन्न भावना का अनुभव होता है। इन कठिनाइयों से बच्चे की शक्ति का हनन होता है और वे कुछ अप्रत्यक्ष रूप से अन्यमनस्क हो जाते हैं। जब ये बच्चे स्कूल या पाठशाला जाते हैं तब ठीक तौर से इनका मार्ग प्रदर्शन नहीं हो पाता। मार्ग प्रदर्शन इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि उनकी शक्ति के पूर्ण विकास का घर में अवसर ही नहीं मिलने पाता। जब तक बच्चा घर में अकेला रहता है वह अपने को बड़ों की समता का समझता है। हर एक कार्य में दिलचस्पी लेता है। लेकिन जहाँ उस घर में और बच्चे आ जाते हैं और वह भी उन्हीं बच्चों की तरह व्यवहृत किया जाता है तब वह एक विचित्र स्वभाव वाला और असामाजिक तथा दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखने वाला प्राणी हो जाता है। इस भावके उत्पन्न होने का कारण है— उसके महत्व की अल्पता। साथ ही वह इस बात का भी अनुभव करता है कि अब वह बड़ों की सी इज्जत वाला नहीं है और न अब उसकी बड़ों की सी क़दर ही है। ऐसी अवस्था में वह अपने को बड़ों से नीचा समझने लगता है और एक विरोधी भावना सामने आती है। ऐसी परिस्थिति में बच्चों को कभी ऐसा अवसर नहीं देना चाहिए कि वे अपनी अवस्था से अधिक या

बड़ों बूढ़ों के समाज में सम्मिलित हों और अपने को उन्हीं की श्रेणी का समझें।

प्रेमका उल्टा घृणा नहीं। प्रेम का उल्टा या विरोधी भावना है—उदासीन या तटस्थ होना। घृणा तो प्रेम का वह रूप है जो दण्डके द्वारा बच्चे या किसी में उत्पन्न किया जाता है। भयघृणा का अभिन्न मित्र है और दोनों हाथ में हाथ मिलाकर साथ साथ चलते हैं। एक बच्चा अपने छोटे भाई को क्यों घृणा की दृष्टि से देखता है? इसलिए कि उसका भाई माता का प्रेम जो उसपर ही केन्द्रीभूत था, न छीन ले। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वह अपने से अधिक स्नेह का केन्द्र अपने छोटे भाई को पाकर और अपनी माता को अपनी तरफ से उदासीन हो जाने के भय से भयभीत रहता है।

वस्तु के प्रति घृणा का भाव हटाना उतना कठिन नहीं है जितना की अपने व्यक्तित्व के प्रति घृणा हटाना। अपने व्यक्तित्व के प्रति घृणा की भावना हटाना मनोविज्ञान का विषय नहीं—उसका सम्बन्ध तो दर्शन शास्त्र से है। व्यक्तिगत मनोविज्ञान बड़ा ही भयानक और कठिन है। आत्मा का अध्ययन सरल काम नहीं है। कभी कभी आत्मा का अध्ययन ऐसा भयकंर होता है कि मनुष्य आत्महत्या द्वारा अपने से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है। किसी बच्चे या बालक का अपने स्वभावाध्ययन का विचार तो बढ़ाना ही नहीं चाहिए। पिता की यह शिक्षा कि बच्चा अपनी

चीजों का बँटवारा करे और इसके लिए दंड देने का परिणाम यह होता है कि बालक सदा अपने माता पिता के सामने निःस्वार्थी होने का प्रदर्शन करता है लेकिन सदा ही उसकी यह गुप्त आकांक्षा रहती है कि काश वह अपने पिता के समान बलशाली हो जाय और अपनी बातों पर दृढ़ रहने का प्रयत्न कर सके। वह माता का उतना ही प्रेम चाहता है जितना कि माता का उसके पिता के प्रति होता है। इस प्रकार बच्चा अपने पिता के सिद्धान्तों की ओर अप्रत्यक्ष रूप से खिंचता जाता है लेकिन वह अपनी आन्तरिक भावना द्वारा तथा कभी कभी प्रत्यक्ष भावनाओं द्वारा भी आपके विरुद्ध कार्य करता सा दिखाई पड़ता है।

बात यह है कि बच्चा भी चाहता है कि पिता की तरह उसकी आज्ञाएँ मानी जायें। जितना ख्याल उसके पिता का रखा जाता है उतना उसका भी रखा जाय। लेकिन व्यवहार क्षेत्र में बच्चे की कोई उतनी परवाह तक नहीं करता। इसका परिणाम यह होता है कि वह बालक अपने बड़ों के द्वारा बनाये गये सभी अनुशासनों, आज्ञाओं के प्रति विद्रोह करता है। यही बालक जब पाठशाला में जाता है तो पिता का स्थानापन्न पाता है—अध्यापक को। वह अपने पिता के सारे गुण दोषों का आरोप अपने अध्यापक पर करता है और अध्यापक के द्वारा बनाये गये सभी नियमों का उसी प्रकार विरोध करता है जिस प्रकार पिता के द्वारा बनाये गए नियमों का विरोध करता। ऐसे बच्चों को बड़ों के द्वारा बनाये गये सभी

नियमों के प्रति घृणा होती है। लेकिन जब ऐसे ही बच्चों को नेता या अगुवा बना दिया जाता है तो वे बड़े ही अनुशासन प्रिय हो जाते हैं।

चरम सीमा की घृणा की भावना में चरम सीमा की प्रेम की भावना रहती है। वही बालक जो नियमों और सामाजिक सिद्धांतों के विरुद्ध था जब अगुवा बना दिया जाता है तब बिलकुल बदल जाता है और सारी परिस्थिति बदल जाती है। वह बालक अपने को महत्वशाली और आवश्यक व्यक्ति समझने लगता है और विद्रोह की भावना आत्म समर्पण की भावना में पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह नियमों के प्रति विद्रोही न था, वह यथार्थ में उस व्यक्ति के प्रति विद्रोह करता था जो उन नियमों को बनाता था और उसे कमजोर समझकर उस पर लादने का प्रयत्न करता था। वह अपने पिता के प्रति या अभिभावक के प्रति घृणा नहीं करता बल्कि उसके द्वारा जो अनुशासन उस पर लादा जाता है उसको घृणा करता है। जब ऐसे बच्चे पिता या अभिभावक की तटस्थता के द्वारा स्वतन्त्र होकर पलते हैं तो उनमें प्रेम की भावना और अनुशासन के प्रति प्रेम की भावना का उदय होता है और वे समाज के एक उच्च कोटि के नागरिक हो जाते हैं।

भय की भावना

संभवतः जन्म के बाद मृत्यु ही भय की जननी है। भय का अन्तिम आधार मृत्यु है। भय की भावना की आधारपीठिका भी मृत्यु ही है। पहले पहल जाति-संरक्षण के विचार से ही भयका प्रयोग जीवों ने किया होगा। जो जीव मृत्यु के भय से अपने को हिंसक जन्तुओं से बचाने में सफल हुए हैं उनके जाति के चिह्न आज भी संसार में मिलते हैं।

आदमी को, आदिम अवस्था के काल में केवल वन्य पशुओं का अधिक भय रहा होगा और खतरे के समय वे अपने को अपनी कंदराओं में छिपाकर अपने जीवन की रक्षा करने में सफल हुए होंगे। उस काल में मनुष्य को केवल दैत्याकार जीवों से ही मृत्यु-भय रहा लेकिन जैसे जैसे सभ्यता का विकास हुआ है मनुष्य अपनी आदिम अवस्था के भय से तो मुक्त हो गया है और अब उन प्राचीन भयों का नामोनिशान भी नहीं मिलता।

मनुष्य उन प्राचीन भयों से तो मुक्त हुआ। लेकिन सामाजिक विकास के साथ ही वह भय से आवृत होता जा रहा है। सचमुच आज प्रत्येक प्राणी केवल भयों का एक विशाल केन्द्र हो गया है। यदि हम आप से पूछें—क्यों साहब आपको किसी चीज से भय लगता है? तो आप फौरन सर हिला देंगे और

कहेंगे—'वाह भाई ! क्या मजाक करते हो। हमें भला किसी चीज से भय क्यों लगेगा। मुझे तो किसी चीज से भय नहीं लगता। मैं बड़ा निर्भीक हूँ।' लेकिन जब सूक्ष्मता से आप का विश्लेषण किया जाता है तो ज्ञात होता है कि आपको पग पग पर भय का आतंक आतंकित करता रहता है। 'हमें भय रहता है कि कहीं हमारी प्रतिष्ठा न समाप्त हो जाय। हमें कहीं लोग अन्यथा न समझ लें। कहीं गाड़ी उलट गई तो! इस लिए पीछे वाले डिब्बे में बैठना चाहिए। रात में बाहर निकलें कहीं साँप काट ले तो।' आदि भावनाओं पर यदि हम विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य सदा अपने अन्तिम परिणाम मृत्यु से ही अधिक आतंकित और भयभीत रहता है। पहले केवल उसे अपने शरीर रक्षा की ही चिन्ता थी अब तो शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक और न जाने कितने 'तिको', 'रिको', 'सिको', 'जिको' आदिका भय उसे रहता है।

मनुष्य के भय की संख्या के साथ उसकी कमजोरी भी बढ़ती गई और वह एक असहिष्णु प्राणी होता गया और उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं। बच्चे भी अपने घरों के वातावरण के अनुसार ही पलते हैं। पिता और अपने सम्बन्धियों की कार्यप्रणाली का अनुसरण करते हैं और उनके मनोभावों से प्रभावित होते रहते हैं। थोड़ा सा बच्चा बड़ा हुआ नहीं कि अरे मुनवाँ पानी में मत खेल अरे बचवा धूप में मत जा, तबीयत खराब हो जायगी कपड़े

पहन ले क्यों नंगा घूमता है सर्दी लग जायगी।' कहीं बच्चा इकलौता हुआ तब तो महान बंधनों से जकड़ा वह बालक धीरे-धीरे विकसित होता है। ऊपर के सभी वाक्यों पर यदि हम विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि माता या पिता को सदा इसका भय रहता है कि कहीं बच्चे का अनिष्ट न हो जाय। वे किसी अदृष्ट भयकी कल्पना से सदा भयभीत रहते हैं और उनके भय के कारण बच्चे का जीवन ही एक तमाशा हो जाता है। यहीं तक भय की सीमा सीमित हो यह बात नहीं। बच्चा जरा रोया नहीं कि 'सिपाही, बिल्ली, बुढ़वा' न जाने कितनी वस्तुओं से बच्चे में भय का संचार कराया जाता है और उसे अपना आश्रित बनाया जाता है। लेकिन क्या बच्चे को इस प्रकार के भयों से आवृत कर देना उचित है? बारह वर्ष की अवस्था एक बच्चे की हो रही हो, लेकिन फिर भी माता उसे दुध-मुँहा बच्चा ही समझती रहे तो इससे बच्चे की कितनी हानि हो सकती है इसका अन्दाज़ लगाया जा सकता है। हम लोग नित्यप्रति जीवन में ऐसी हिदायतें बच्चों को देते रहते हैं जो विचार करने पर हास्यास्पद और नाटकीय प्रतीत होती हैं। हम लोग सदा बच्चों के सामने नाटक के पात्रों की तरह अभिनय करते रहते हैं और उन पर अपने बल, अपनी बुद्धि, अपनी क्षमता की धाक जमाये रखना चाहते हैं। बच्चे भी हमें असीम शक्ति वाला समझते हैं।

लेकिन एक अवस्था बच्चे के जीवन में ऐसी भी आती है

जब कि वह अपने पिता की और अपनी बातों की आलोचना करने लगता है और कार्यक्षेत्र में इस बात का अनुभव करता है कि हमारा पिता भी तो हमारी ही तरह कमजोरियों का एक समूह है जो सदा भयभीत रहता है । वह न गामा है न राममूर्ति, और यदि गामा या राममूर्ति है भी तो अपने क्षेत्र में उसको भी भय रहता है । उसके सामने यह स्पष्ट झलकने लगता है कि अब तक उसके अभिभावक असत्य के द्वारा उस पर अपना प्रभाव जमाये हुए थे और सदा एक धोखे की टट्टी खड़ी करते रहते थे । ऐसी अवस्था में उसे अपने चारो ओर और छोटे-छोटे कामों में भी असफलता के बीज और असफल होने का भय दिखाई पड़ता रहता है । कहा भी है एक वीर एक बार मरता है और कायर सैकड़ों बार मरा करता है । बात तो सच है । कायर की मृत्यु का रूप तो भय को ही प्राप्त है । संसार में सभी कायर हैं । वीरता का अपना अलग कोई अस्तित्व नहीं । वही वीर है जो अपनी कायरता को चरम सीमा पर या भय को चरम सीमा पर ले जाकर, उसे अपने कार्य क्षेत्र में, वीरता के रूप में प्रदर्शित करता है या अपने भय को वीरता का बाना पहना देता है । उसकी कायरता जब शक्तिशाली कार्यरूप में परिणत हो जाती है तब उसे लोग वीर कहने लगते हैं । लेकिन एक कायर अपनी कायरता का उपयोग नहीं जानता ।

कभी-कभी हम आकार-प्रकार को देख कर डर जाते हैं । किसी

विशालकाय को देख कर एक दुबला पतला स्फूर्तियुक्त मनुष्य कुछ क्षण के लिए भले ही डर जाय लेकिन जब आवश्यकता पड़ती है और जीवन मरण का प्रश्न आ जाता है तो वह दुर्बल आदमी भी अपनी शक्ति आज़माता है और देखता है कि वास्तव में वह उस विशालकाय से कही अधिक शक्तिशाली है। लेकिन अपनी शक्ति आज़माने के पहले उसे आकार का भय था। असहाया वस्था की चरम सीमा पर, कायरता या भय भी, वीरता की भावना में परिवर्तित हो जाती है।

हमें यदि कोई दस घूँसे मारे और मैं भी यदि उसे एक घूंसा मार दूँ तब तो बात यहीं खत्म हो जाती है लेकिन यदि उसे न मार कर हम किसी अदालत में उस पर अभियोग पेश करके उसको सज़ा दिलाने का प्रयत्न करें तब तो यह और भी भयावह और हानिकर है। बच्चों के मामलों में अधिकतर इसी नीति का अवलम्बन होता है। बच्चों के मुक़दमे रोज़ ही माता-पिता की अदालतों में पेश होते हैं। बेचारे मुजरिम को उपदेशों की झड़ी और बेत की छड़ी के प्रहार का प्रसाद मिलता है और दण्ड दिलाने वाला अपनेको कुछ समय तक तानाशाह समझता है और अपनी माँ या पिता के खूँट में बँधा रहता है। उसमें स्वतंत्र रूप से कार्य करने की शक्ति ज़रा कठिनाई से आती है।

भय की उत्पत्ति और प्रकारों का विवेचन तो हम लोगों ने किया

पर क्या कोई ऐसा उपाय है। जिसके द्वारा भय की भावना ही उत्पन्न न हो? मैं समझता हूँ यदि हम अपने विचार स्पष्टता से बच्चों के समक्ष रखें, केवल बहुरुपिये के रूप में उनके सामने न प्रकट हों और न उनके आदर्श बनें तो बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जायें। तब वास्तव में बच्चे का और हमारा भी जीवन भय रहित हो जाय।

व्यक्तित्वों का द्वंद्व

बाल्यावस्था में जब बालक अपनी अवस्था से अधिक व्यक्तियों को ऐसे शारीरिक कार्य करते हुए देखता है जिसके लिए वह अपने को अक्षम पाता है, उस समय उसकी विचित्र अवस्था होती है। वाह्याकार में तो वह अपने को, अपनी स्थिति को, बड़ों के सामने, बहुत ही दुर्बल पाता है। वह अपने और प्रौढ़ों के शारीरिक अन्तर का भेद स्पष्ट देखता है, लेकिन संसार के प्रत्येक विचारशील जाति में अहंवाद का अंकुर रहता है। इस लिए वह बालक—जो अवश्य ही विचारशील जाति का एक सदस्य है—अपने को दूसरे से हेय या अक्षम नहीं समझना चाहता। उसके हृदय में एक ऐसी भावना उत्पन्न होती है जिसके द्वारा वह अपने को प्रौढ़ों के समकक्ष ला खड़ा करता है। उस भावना को जिसके द्वारा वह अपनी दुर्बलताओं को भूलने का प्रयत्न करता है—हम आशा कह सकते हैं।

यह आशा, बालक में एक नए व्यक्तित्व का विकास कराती है और सच पूछिये तो वह बालक दो व्यक्तित्वोंवाला प्राणी हो जाता है। एक तो उसका वह वाह्य व्यक्तित्व है जिसको हम सब लोग देखते हैं और बिलकुल स्पष्ट है दूसरा वह व्यक्तित्व है जो उसके अन्तर में छिपा रहता है और कभी-कभी अवसर पड़ने पर शब्दों

द्वारा व्यक्त होता है तथा जिनके द्वारा उस आन्तरिकव्य क्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। मैंने अभी केवल दो व्यक्तित्वों की बात आप से कही, पर हमारे यहाँ के प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने तीन-तीन व्यक्तित्वों वाले व्यक्तियों की कल्पना की है। वे मनसा, वाचा, कर्मणा विभिन्नता उत्पन्न करके तीन व्यक्तित्व वाले व्यक्ति की कल्पना करते हैं। यदि 'मनसा, वाचा, कर्मणा', विभाग से हम व्यक्ति का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि कभी-कभी तीन पृथक व्यक्तित्व स्पष्ट झलकते हैं।

एक मनुष्य आपसे ईर्ष्या करता है। जब आप उसके पास आते हैं तो उस समय वह आपकी उच्चता और बड़प्पन का बखान करता है, पर जैसे ही आप दृष्टि से ओझल हुए नहीं कि वह आपको अपने कर्म द्वारा हानि पहुँचाने का प्रयत्न करता है। एक दूसरा व्यक्ति जो मनसा आपके प्रति बहुत उदार है, सम्मुख आते ही इस प्रकार बातें करता है जैसे आपके प्रति उसे बड़ी घृणा है पर आपके जाते ही वह इन दोनों भावों के विरुद्ध कार्य करता है। इन विभिन्न श्रेणी के व्यक्तित्वों वाले प्राणी संसार में मिलते हैं। लेकिन जब हम सूक्ष्मता से देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि अधिक संख्या में ऐसे ही व्यक्ति मिलते हैं जिनमें दो व्यक्तित्वों की ही प्रधानता होती है। तीन व्यक्तित्वों वाले और एक व्यक्तित्व वाला व्यक्ति अपवाद के समान हैं। अधिकतर ऐसे ही व्यक्तियों की प्रधानता है जिनका एक व्यक्तित्व तो मन के द्वारा उत्पन्न होता है,

जो गुप्त रहता है, और केवल आशावाद के रूप में प्रकट हो जाता है। दूसरे व्यक्तित्व की रचना वाचा और कर्मणा होती है। इन्हीं के हेर फेर से व्यक्तित्वों का निर्माण होता रहता है। कभी कभी मन और वाणी साथ-साथ रहते है, कभी मन कर्म के साथ रहता है और कभी वाणी कर्म साथ रहते हैं। लेकिन जब इन तीनों का समन्वय या एक ही स्वरूप में प्रकटीकरण होता है तो वह एक व्यक्तित्व वाला व्यक्ति हो जाता है। वही मनुष्य मनुष्यता की चरम सीमा को प्राप्त होता है। लेकिन जब इन तीनों का एक दूसरे से विरोध रहता है तब मनुष्य, मनुष्यता की हीनावस्था के पाताल में पहुँच जाता है।

समाज में संतुलन रखने में व्यक्तित्वका द्वंद्व बड़ा सहायक होता है। जैसे जैसे बालक बढ़ता जाता है वैसे वैसे उसकी आशाएँ, अभिलाषाएँ और आकांक्षाएँ बढ़ती जाती हैं। यदि बालक की सब आकांक्षाएँ तृप्त होती गईं तब तो कोई बात नहीं, उस समय व्यक्तित्वों के द्वन्द्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि उसकी सब आकांक्षाएँ संतुष्ट होती चल रही हैं। लेकिन सच पूछिए तो क्या संसार में एक भी ऐसा प्राणी है जिसके जीवन की सारी आशाएँ और अभिलाषाएं पूरी होती हों? यदि ऐसा हो तो प्रकृति के नियमों की स्वाभाविकता ही न रह जाय और समाज में प्रगति के कोई लक्षण ही नज़र न आयें। समाज से उन्नति, अवनति, स्पर्द्धा, ईर्ष्या, द्वेष, सदा के लिए उठ जाय। यथार्थ बात

यह है कि जब मनुष्य के हृदय में एक अभिलाषा उत्पन्न होती है उस समय वह अपने क्षमतानुसार कर्म के द्वारा अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और सफल हुआ तो अपने दूसरे व्यक्तित्व के साथ उसका द्वन्द्व नहीं होता। यदि असफल होता है तो अपनी असफलता को जो कि मन और कर्म के द्वारा उत्पन्न हो चुकी है, अपने वाचा से सफलता के रूप में परिणित करना चाहता है। यदि एक बार भी वह अपनी असफलता इस प्रकार सफलता के रूप में परिणत करने में सफल हो जाता है तो सदा के लिए उसके अन्तर में दो व्यक्तित्वों का द्वन्द्व चलने लगता है। जब उसे असफलताएँ होती हैं तब वह अपनी असफलता को छिपाने का प्रयत्न वचनों के द्वारा करने लगता है। अधिकतर समाज में ऐसे ही प्राणी मिलते हैं जिनके जीवन में मन, कर्म के द्वारा एक और वाणी के द्वारा दूसरा व्यक्तित्व उत्पन्न होता है। इसका प्रधान कारण है हमारी सीमित शक्ति। अपनी सीमित शक्ति के कारण हमें ऐसा अवसर नहीं मिलता कि हम अपनी इच्छाओं के अनुसार अपने व्यक्तित्वों का निर्माण करें। ऐसे ही व्यक्ति अधिक मिलते हैं जो वचन के बड़े मधुर पर मन और कर्म के द्वारा बड़े ही घातक होते हैं। ऐसों की संख्या कम है जो वाणी से रूखे होते हुए भी मन और कर्म के द्वारा किसी दूसरे को लाभ या हानि पहुँचा सकें।

हमारी आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों में यदि

किसी एक में, किसी बात की कमी होती है तो उसकी पूर्ति या तो कल्पना के द्वारा या तो द्वन्दों के द्वारा मनुष्य करता रहता है। इन द्वन्द्वों के बीच वह अपनी स्थिति भविष्य में सुधार लेगा, इस तरह की आशा करता रहता है। हममें से सभी लोगों ने अनुभव किया है कि ऐसे व्यक्ति बहुत मिलते है जो अपने भूत काल को बड़ा महत्व देते हैं और उसे सोने का युग समझते हैं वे सदा यही कहते हैं 'हमारा भी एक ज़माना था, हम सैकड़ों रूपये पानी की तरह बहाते थे। हमने जमीन पर पैर नहीं रखा। हमने वह ऐश आराम किया जो क्या कोई राजा करेगा।' ये बातें यह सूचित करती हैं कि मनुष्य ऐसी ही बातों की या तो कल्पना करता है और नहीं तो वास्तव में उसका अच्छा समय था अब ख़राब दिन आ गए हैं और उसके हृदय में द्वन्द्व चल रहा है।

आखिर ऐसे विचारों या व्यक्तित्वों के द्वन्द्व का कारण क्या है? इसका प्रधान कारण है सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन का अन्योन्याश्रित संबंध। यदि समाज में हम अर्थ हीन हैं तो अपने में अर्थ के लिए द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं। यदि हम समाज में, अपने में, धर्म की कमी का अनुभव करते हैं तो हम धार्मिक प्रवृत्ति के लिए द्वन्द्व उत्पन्न कर लेते हैं और अपनी स्थिति समाज के प्राणियों के समकक्ष लाने का प्रयत्न करते हैं। जब मनुष्य जिन गुणों की प्रधानता वाले व्यक्तियों के साथ अपना घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करता है और जिन बातों की कमी अपने में पाता है या

अनुभव करता है उनको या तो वह अपने 'भूत' के गुण होने की कल्पना करता है या तो भविष्य में वह इन गुणों से युक्त हो जायगा, ऐसी आशा करता है। जब तक उसकी इच्छा पूर्ति नहीं होती तब तक व्यक्तित्वों का द्वन्द्व चलता रहता है। जब तक संसार में विषमताओं की खाई सामने है, तब तक तो इन द्वन्द्वों में परिवर्तन होने के चिह्न नजर नहीं आते। मेरी धारणा है कि संसार की ये विषमताएँ किसी न किसी रूप में सदा रहेंगी और व्यक्तित्वों के द्वन्द्व का संचालन करती रहेंगी।

योग्य पिता का अयोग्य पुत्र क्यों ?

मनुष्य की दो प्रकार की मनोवृत्तियाँ होतीं हैं एक विकसित और एक अविकसित। प्रत्येक मनुष्य अपने कार्यों को विचार पूर्वक करता है। वह अपने भले बुरे सभी कार्यों को करता है पर उसका वह पूर्ण विवेचन नहीं कर पाता। समाज में विभिन्न प्रकार के प्राणियों के दर्शन होते हैं। कुछ मनुष्य तो ऐसे होते हैं जिनमें बुराइयों की अधिकता होती है। चोरी, व्यभिचार, असत्य संभाषण उनके जीवन की दिनचर्या है। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो हर प्रकार की बुराइयों से अपने को तटस्थ रखकर केवल सद्गुणों के द्वारा समाज की भलाई करते हैं। यह नहीं कि उनमें बुराइयाँ होती ही नहीं। बुराइयां उनमें भी होती हैं पर अपने ज्ञान और बुद्धि के द्वारा वे अपनी बुराइयों पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। तीसरे प्रकार के प्राणी ऐसे होते हैं जिनमें अच्छाई और बुराई दोनों का समन्वय होता है। पर किसी एक की प्रधानता होती है।

प्रश्न उठता है ऐसा क्यों होता है? बड़े बड़े नेताओं, विद्वानों और अत्यधिक सचरित्रवान व्यक्तियों के वंशज अत्यंतमंद बुद्धि और तेज-हीन क्यों होते हैं? योग्य पिता का योग्य पुत्र साधारणतया कम देखने को मिलता है। यदि साधारण व्यक्ति से इसका कारण पूछा जाय तो वह यही कहेगा कि बड़े लोगों को अपने

बच्चों के लालन पालन और शिक्षा देने का कम अवसर मिलता है। इसलिए उनके पुत्र अयोग्य हो जाते हैं, या उनको अवसर न मिलने के कारण उनके पुत्र नौकरों के संरक्षण में रहते हैं इसलिए उनमें बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। पर सच पूछिए तो बात ऐसी नहीं है।

हिरण्य कशिपु की कथा सबने सुनी है। वह दोषों का प्रतीक था। जब उसके प्रहलाद नामक पुत्र हुआ तब उसने अपनी संरक्षता में ऐसा प्रबंध किया कि उसका पुत्र उसके सिद्धांतों का पोषक हो। पर इतना कड़ा नियंत्रण होने पर भी वह अपने पिता के प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण न कर सका। धार्मिक व्यक्ति इस कथा में ईश्वरेच्छा घुसेड़ेंगे। पर ईश्वरेच्छा तो हर कार्य में है ही। इस स्वभाव विरोध या सिद्धांत विरोध का कारण और ही है।

आप जानवरों तक में इस बात का स्पष्ट आभास पा सकते हैं कि जब एक साधारण जाति की कुतिया का अच्छे कुत्ते से जोड़ होता है तो कुछ बच्चे तो बिलकुल पिता की तरह होते हैं और कुछ अपनी माता की तरह। माता या पिता के स्वभाव का कुछ न कुछ दोनों में विरोध होता है। पर जैसे जैसे जाति में उन्नति होती जाती है उस समय तो उनमें पिता या माता के स्वरूप या आकार का कोई भी अस्तित्व नहीं रह जाना चाहिए पर ऐसा नहीं होता। कभी कभी दो चार पीढ़ियों के बाद कुछ उत्पन्न हुए जीवों में वही अपने पूर्वजों के रूप या आकार का पूर्ण आभास मिलता है। यह बड़ा स्वाभाविक है।

मानव की आदिम अवस्था का स्मरण कीजिए। उस समय मनुष्य समूह के स्वभाव, प्रवृत्ति और व्यवहार में कोई अधिक अंतर न था। उसका स्वभाव ऐसा ही था जैसा कि आज पशुओं का पाया जाता है। पर बुद्धि के विकास के साथ मनुष्य के आहार, व्यवहार, प्रकृति, सभी में अंतर आता गया और मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता गया। इतना होने पर भी आज हमारी आदिम अवस्था की कुछ विशेषताएँ प्रत्येक व्यक्ति में मौजूद हैं जैसे ईर्ष्या क्रोध, घृणा, आदि। जैसे एक कुत्ता अपने आहार का स्पर्श दूसरे कुत्ते को नहीं करने देता उसी प्रकार एक मनुष्य अपने स्वार्थ की वस्तु का अपहरण या नष्ट होना नहीं पसन्द करता। जो उसकी वस्तु नष्ट करता या छीन लेता है उसके प्रति वह भी पशुओं की ही तरह क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि मनोवृत्तियों का प्रदर्शन करता है। यह एक साधारण श्रेणी के जीव या मनुष्य की बात हुई।

दूसरे प्रकार का वह व्यक्ति है जिसने अपनी बुद्धि के विकास के द्वारा, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि मनोभावों पर अधिकाधिक, विजय प्राप्त की है और यदि उसकी कोई किसी प्रकार की हानि भी कर देता है तो वह ईर्ष्या क्रोधादि से तटस्थ रहता है। ऐसा नहीं कि वे मनोभाव उसके हृदय में आविर्भूत ही नहीं होते। होते अवश्य हैं पर वह मनुष्य अपनी विद्या बुद्धि के बल से उसे दबा देता है। इस दबाने का परिणाम होता है कि ये मनोवृत्तियाँ उसमें रहती अवश्य हैं पर वे सोती रहती हैं। या तो ये मनोवृत्तियाँ हमेशा के लिए

उस व्यक्ति में सो जाती हैं या ४० वर्ष की अवस्था के बाद फिर जागृत हो जाती हैं। ४० वर्ष की अवस्था के बाद इनके उदय होने का भी प्रधान कारण है। ४० वर्ष की अवस्था तक मनुष्य की सब इन्द्रियाँ स्फूर्ति युक्त होती हैं, पर ४० वर्ष की अवस्था के बाद उनमें शिथिलता के कारण वह अपने भावों पर जो नियन्त्रण पहले कर पाता था नहीं कर पाता। इसलिए जो मनोभाव या मनोवृत्तियाँ सुषुप्त अवस्था में थीं वे जागृत होकर बाहर आने का प्रयत्न करती हैं और बड़े वेग से बाहर आने लगती हैं। इस लिए बहुधा देखा जाता है कि ४० वर्ष की अवस्था के बाद वही मनुष्य जो बड़ा उदार या सच्चरित्र था, धीरे-धीरे क्यों, एकाएक संकीर्ण और दुश्चरित्र हो जाता है। मनोवृत्तियों पर शासन करने में यदि कोई व्यक्ति अपने वैयक्तिक जीवन में सफल भी होता है तो वही मनोवृत्तियाँ उसके पुत्र में पूर्ण रूप से विकसित होकर जन्म लेती हैं और जो मनो-वृत्तियाँ उस समय मनुष्य में पूर्ण विकसित थीं वे ही उसके पुत्र में सुषुप्त अवस्था में रहती हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि समाज में लायक़ पिता के नालायक़ बेटे होते हैं। यदि पिता बड़ा ही उदार है तो उसका पुत्र उतना ही कौड़ियों को दाँत से पकड़ने वाला हो सकता है।

पर इस सिद्धान्त द्वारा तो एक विचित्र समाज की स्थापना होनी चाहिए थी क्योंकि यदि एक अयोग्य पिता का पुत्र योग्य होता है तो एक योग्य पिता का पुत्र तो अयोग्य होना चाहिए ; पर ऐसा

नहीं होता। क्यों? इसका प्रधान कारण है मनोवृत्तियों के पूर्ण-विकास का समय और मनुष्यों के स्वभाव में क्षणिक परिवर्त्तन।

कभी कभी देखा जाता है कि जो व्यक्ति युवावस्था या प्रौढ़ावस्था में बड़ा ही उच्छृङ्खल था वही बाद में बड़ा ही गंभीर और सैद्धांतिक व्यक्ति हो जाता है। बात यह है कि जिस समय मनुष्य की जो संतान होती है उसके उन्हीं प्रधान मनोवृत्तियों का विरोध अधिकतर उसके पुत्र में होता है पर जैसे-जैसे मनुष्य के स्वभाव में अन्तर होता जाता है उसी प्रकार उसकी संतानों में भी मनोवृत्तियों का अन्तर होता जाता है।

'गुदड़ी' में ही लाल होता है इस कहावत को हम बराबर सुनते आ रहे हैं। गुदड़ी में ही लाल होना तो परम स्वाभाविक और परम मनोवैज्ञानिक है। जब एक मनुष्य की अवस्था दरिद्रता की चरम सीमा पर पहुँचती है तब उसी वंश में करोड़पतियों का जन्म होता है। विश्व के जितने घन कुबेर हुए हैं वे दरिद्रता के जर्जर अङ्क में पले हैं। फौरन प्रश्न उठता है कि धनी या दरिद्र होना तो मनुष्य के उद्यम पर निर्भर करता है पर बात पूर्णरूप में ऐसी नहीं है। दरिद्र की मनोवृत्ति का पूर्ण विरोधाभास उसके पुत्र में उत्पन्न होता है और उसकी मनोवृत्तियाँ करोड़पति की सी होती हैं इसलिए वह ऐसा ही उद्यम करने के लिए अपने मनोवृत्तियों से बाध्य किया जाता है जो उसे करोड़पति बना देती हैं।

समाज में ऐसे ही व्यक्तियों की प्रधानता होती है जिनमें

बुराइयों और अच्छाइयों का सम्मिश्रण रहता है और यही सम्मिश्रण, समाज में एक या दूसरे की प्रधानता के साथ (अच्छाई या बुराई) प्रचलित रहता है तथा इसी लिए समाजमें उन्नत व्यक्तियों, उदार महात्माओं और नेताओं की अल्प संख्या रहती है। अधिकतर साधारण श्रेणी के लोग ही समाज का संघठन करते हैं और समाज अधिकतर साधारण व्यक्तियों का ही समूह रहता है।

आलसी बालक

निःसीम आकाश की ओर ज़रा दृष्टि तो दौड़ाइये। कितना विस्तृत क्षेत्र है एक पक्षिशावक के लिए? वह कितना स्वतन्त्र है! उसके विचरण के क्षेत्र की कोई सीमा नहीं। मृगशावक या केहरि कुमार जब छलाँगें मारता है, तो उसके सामने कोई भी बन्धन नहीं। अपनी जीवन शक्ति के विकास की कैसी स्वतन्त्रता उसे है! क्या हमारे मानव को भी वही स्वतन्त्रताएँ हैं? क्या उसका भी वैसा ही मार्ग है जिस पर वह जाने के लिए स्वतन्त्र है? यदि पिता डाक्टर है तो वह अपने पुत्र को ठोंक पीट कर वैद्यराज बनाने के लिए कोई बात उठा न रखेगा चाहे बालक की रुचि इस ओर हो या न हो। फिर हम इस बात की कल्पना ही क्यों करें जो प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है! बालक की स्वतन्त्रता का भी तो कोई अस्तित्व होना ही चाहिये और उसका भी प्रत्येक अभिभावक को ध्यान रखना ही चाहिये।

घरों में तथा शिक्षा-संस्थाओं में बहुधा यह सुनने में आता है कि 'यह बालक सुस्त है, आलसी है, या काहिल है।' प्रश्न उठता है यह आलस्य है क्या चीज़? बच्चों के जीवन में इसकी उत्पत्ति का क्या कारण है? यथार्थ में आलस्य का कोई अपना अस्तित्व नहीं। अस्वस्थता या अरुचि ही आलस्य है। बच्चे कभी आलसी

नहीं होते। एक स्वस्थ बालक भला चुपचाप कैसे बैठा रह सकता है ? वह दिन भर कुछ न कुछ किया ही करेगा। लेकिन कभी-कभी स्वस्थ बालकों में भी आलस्य का आरोप किया जाता है। इसका प्रधान कारण है अरुचि। एक बालक की संगीत, साहित्य, कला के प्रति रुचि है पर गणित के प्रति नहीं है। जब उसी बालक को गणित का अध्ययन बरबस करना पड़ता है, तो गणित के प्रति ही नहीं, बल्कि सभी विषयों के प्रति वह उदासीन हो जाता है और उसके जीवन में आलस्य की उत्पत्ति होती है। हमारी शिक्षा-प्रणाली कितनी दूषित है ! वह सब धान बाईस पसेरी समझती है। बालक की रुचि-अरुचि का कोई प्रश्न नहीं। यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को सब कुछ पढ़ना ही पड़ेगा, चाहे उसकी रुचि हो अथवा न हो। इसका परिणाम होता है शिक्षा और शिक्षा-संस्थाओं के प्रति अरुचि और घृणा। अनुभूति इस बात को सिद्ध करती है कि प्रत्येक बालक को हर विषय से रुचि नहीं होती और हो भी नहीं सकती।

अब पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्रियों ने इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली को दोषपूर्ण घोषित किया है। वहाँ ऐसी शिक्षा-संस्थाओं का जन्म हो चुका है और हो रहा है, जहाँ बालक कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र है और जिस विषय में उसकी रुचि होती है, वही वह करता है। यदि बालक कुछ नहीं करना चाहता, तो उसके लिए भी वह स्वतन्त्र है। इसका परिणाम बड़ा लाभप्रद होता है। उन बच्चों के

जीवन में एक ऐसा समय आता है जब कि वे स्वतन्त्रता से ऊबकर कुछ अनुशासन के लिए विह्वल हो उठते हैं। कुरुचिपूर्ण अथवा अरुचिपूर्ण विषयों की ओर चाहे उनकी रुचि न हो पर फिर भी उनको अपने ध्येय के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि एक बालक का ध्येय प्रवेशिका परीक्षा पास करना हो जायेगा, तो ध्येय के प्रति आकर्षण होने के कारण वह प्रत्येक विषय की ओर आकर्षित होगा, क्योंकि उन सबके बिना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती।

सामान्यतः स्वतन्त्र शिक्षाप्रणाली का अद्भुत प्रभाव बारह वर्ष तक के बच्चों पर अवश्य पड़ता है। उसके ऊपर की अवस्थावाले बच्चों पर भी पड़ता है, पर जिन बच्चों ने प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के द्वारा शिक्षा पायी है, उन पर स्वतन्त्र शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव की प्रगति अत्यन्त मन्द होती है। इसका कारण है, बच्चों का परतन्त्रता के वातावरण में विकास। एक ऐसा बालक, जो अनुशासन के कठिन मार्गों द्वारा शिक्षित होता है, स्वतन्त्रता का एकाएक कैसे उपयोग कर सकता है?

यह एक ज़रा आश्चर्यजनक बात मालूम होगी कि स्वतन्त्र वातावरण में शिक्षित बालक बड़े प्रेम से गणित, भूगोल आदि का अध्ययन करता है और उसको तनिक भी अरुचि नहीं होती। यह बात तो मेरे विचार का खंडन करती हुई सी ज्ञात होती है और यह सिद्ध करती है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के विषयों का चयन तब

तो परम मनोवैज्ञानिक है। सूक्ष्मतया विचार करने पर भेद स्पष्ट हो जायगा। अरुचि या रुचि का प्रश्न प्रणाली पर निर्भर करता है। एक अध्यापक जब इतिहास पढ़ाता है, तो बालक उत्साह से उछल पड़ते हैं और उसी को जब एक अयोग्य अध्यापक पढ़ाता है तो बालक ऊँघने लगते हैं। दूसरी बात है अनुशासन और स्वतन्त्रता। एक बालक में रुचि उत्पन्न करने का भगीरथ प्रयत्न किया जाता है और एक बालक सहज स्वाभाविक ढंग से उसे हँसते-हँसते सीख लेता है, क्योंकि वह स्वतन्त्र है और सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र है। एक अनुशासित बालक दृष्टि रहते हुए भी तेली का बैल है, बुद्धि रहते हुए भी लकीर का फकीर है और उसकी रुचि का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। शिक्षा तो जीवन की तैयारी नहीं है, जीवन ही है। जीवन का ध्येय है आनन्द, और आनन्द है रुचि।

एक बालक किसी खेल को देखने के लिए मीलों दौड़ जाता है, उसे थकान नहीं मालूम होती; क्योंकि उसमें उसकी रुचि है। वह उसे अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है। एक आलसी बालक भी तमाशे के लिए मीलों दौड़ सकता है, क्योंकि उसके प्रति उसकी रुचि है। इसलिए प्रत्येक शिक्षालय को पाठ्य विषय के प्रति तमाशे का-सा आकर्षण उत्पन्न करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि शिक्षा तमाशा हो जाय या ऐसी सहज हो जाय कि बालक जीवन में कोई कठिनाई ही न अनुभव करे। अत्यधिक सुगमता बच्चे के

चरित्र-बल के लिये सांघातिक हो सकती है। यदि देखा जाय तो बच्चों के जीवन में कठिनाइयाँ होती ही रहती हैं और उन्हें उनका सामना करना पड़ता है। फिर ऐसे समय में ऐसी बाह्य या उत्पन्न की हुई कठिनाइयों का बालकों को सामना कराना अनावश्यक प्रतीत होता है।

शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि अधिकारी के द्वारा बालक के ऊपर विषयों का लादा जाना अव्यावहारिक और शिक्षा-सिद्धान्तों के विरुद्ध है। बालक को तब तक कोई काम करने के लिये नहीं कहना चाहिये, जब तक कि उसकी उस कार्य के लिए अपनी इच्छा या राय न हो। बच्चे अहंवादी होते हैं, और जहाँ अहंवाद है, वहाँ ऐसे व्यक्तियों का एक साम्यवादी समाज हो जाता है, जहाँ सब अहंवादी हैं, और इसलिए कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न होती।

पुरस्कार के लिये कार्य करना बुरा नहीं है। पर पुरस्कार कार्य रूप में ही मिलना चाहिये। जब मनुष्य संसार के ऐसे कार्यों को देखता है, जो अरुचिपूर्ण तथा शुष्क हैं, तो वह सांसारिक प्रगति और सभ्यता को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है।

बड़े-बड़े कारखानों के मजदूरों के नारकीय जीवन की जरा कल्पना तो कीजिए, उन्हीं की क्यों, दफ्तर के बाबुओं के जीवन को देखिए, जो बोझ ढोते और उतारते हैं। उनके जीवन में क्या खुशी है, क्या आनन्द है, क्या सरसता है, वे कुछ नहीं जानते।

ऐसा ज्ञात होता है कि हमारी शिक्षा-संस्थाएँ ऐसे ही जीवन और व्यक्तियों के निर्माण के लिए ही उत्पन्न हुई हैं।

बहुधा लोग प्रश्न करते हैं कि स्वतंन्त्रता के वातावरण में पले हुए बच्चे जीवन के शुष्क झंझावात में किस प्रकार टिक सकेंगे। मेरा तो अपना विचार है कि ऐसे ही बालक जीवन-युद्ध के आँगन में अग्रगामी होंगे और दृढ़ विचारकों की भाँति अटल होंगे।

फिर हम एक बात तो कभी सोचते ही नहीं। समाज के लिये हर प्रकार से, साम दाम, दंड, भेद, सभी विधियों से हम बालकों को समाज के योग्य बनाने की कोशिश करते हैं। क्या कभी समाज को भी बालकों के योग्य बनाने की कोशिश की गयी? अगर ऐसा हो और ऐसे समाज का निर्माण हो, तो समाज में आलसी बालक उत्पन्न ही न होंगे।

चरित्र निर्माण की धुन

बच्चों के चरित्र निर्माण का प्रश्न बड़ा कठिन है। यथार्थ बात तो यह है कि चरित्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। निर्माण हम उसी वस्तु का कर सकते हैं जिसके विषय में हमें व्यक्त और अव्यक्त रूपसे पूर्णज्ञान हो। हम अपने लिए स्वयं एक प्रश्न या पहेली हैं। जितने भाव या मनोभाव हमारे, आप के अंतर में उठते रहते हैं, उनका ही विवेचन हम नहीं कर पाते, या अपनी इच्छाओं के अनुसार अपनी भावनाओं की वेगवती धाराओं को नहीं मोड़ पाते। ऐसी अवस्था में एक दूसरे प्राणी के मनोभावों का पूर्ण अध्ययन कर पाना और उसको उचित मार्ग पर लगाना यदि असंभव नहीं तो श्रमसाध्य और कठिन तो है ही। वही प्रथम श्रेणी का अन्यतम मनोवैज्ञानिक है जो अपने मन का पूर्णरूप से अध्ययन कर पाता है, और अपने मनोभावों का विश्लेषण कर उनके औचित्य और अनौचित्य का विवेचन कर पाता है। ऐसा ही व्यक्ति समाज या व्यक्तिगत मनोविज्ञान की सहायता द्वारा कुछ कार्य समाज में सुधार का कर पाता है। एक तो चरित्र निर्माण ही कठिन है उसके साथ लगी धुन तो और भी घुन की तरह सब परि-श्रम को चाट जाती है।

चरित्र निर्माण की धुन मैंने इसलिये कहा, क्योंकि, शैशवा-

वस्था की सीमा पार कर जब बच्चा बाल्यावस्था की सीमा की ओर झाँकता सा प्रतीत होता है और बाल्यावस्था के द्वार पर कदम रखना ही चाहता है उसी समय उसके जीवन में बहुत सी नवीनताएँ प्रवेश करने लगती हैं। अभिभावकों की अपनी एक निश्चित विचार धारा होती है, चरित्र के अपने निश्चित आदर्श होते हैं, जिनको वे बच्चों से परिचित कराने के लिए आकुल रहते हैं। परिचित कराने तक, यदि यह बात सीमित रहे तो कोई बात नहीं, उन्हें वे यथा सम्भव प्रेम, घृणा या दण्ड से बच्चों को सिखाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन जितना ही वे कल्पित आदर्शों को बच्चे के ऊपर लादने का प्रयत्न करते हैं, बच्चा सचमुच ही उन आदर्शों से उतनी ही दूर भागता जाता है। क्यों भागता जाता है? माता पिता तो बच्चे की भलाई करने के लिए ऐसा करते हैं फिर बच्चा अपनी भलाई क्यों नहीं समझता? अपने अभिभावकों के विचार के विरुद्ध वह दूसरे मार्ग पर क्यों जाता है?

हम आप सभी अपने बच्चों को शिक्षा देते हैं—'बच्चों सदा सच बोलना चाहिये। क्रोध पाप होता है। किसी को कष्ट नहीं देना चाहिये। आलस्य बुरी चीज़ होती है।' होना चाहिये और होती हैं ये दो बातें, हमारे व्यवहार और दैनिक जीवन के कार्यों से बहुत भिन्न हो जाती हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो इन शिक्षाओं का हम में से, दश प्रतिशत लोग पालन करते होंगे। और इन शिक्षाओं के अनुसार चलते होंगे। हम सदा छोटी छोटी

बातों में ही झूठ बोलते रहते हैं, क्रोध करते रहते हैं, आलस्य के शिकार होते रहते हैं। घर में रहते हुए भी—यदि हमारी किसी से मिलने की इच्छा नहीं है और हम उसे रुष्ट भी नहीं करना चाहते तो ऐसे समय बच्चे से कहला देना कि घर में नहीं हैं। रुपया रहते हुए भी यदि कोई आवश्यकतावश माँगने आये तो यह कह देना—'रुपया नहीं है नहीं तो अवश्य ही मैं आपको दे देता', आदि ऐसी साधारण बातों में भी हम आप सदा असत्य का सहारा लेते रहते हैं और यह समझते हैं कि हम समाज में बड़ी चालाकी से अपनी स्थिति बनाये हुए हैं। इन साधारण बातों में असत्य संभाषण और साधारण बातों में भी हमारा क्रोध करना आदि हमारे छोटे आलोचक मित्र बड़े ध्यान से देखते और सुनते रहते हैं, और अव्यक्त रूप से उनका धीरे धीरे अभिनय भी करते रहते हैं। हमें कभी भी उन छोटे छोटे असत्यों का, क्रोधों का, ध्यान भी नहीं होता, क्योंकि इन्हें हम जीवन की साधारण घटनाएँ समझते हैं। लेकिन व्यक्त-रूप से हमारे ऊपर और अव्यक्त रूप से हमारी संतान के ऊपर तो इन बातों का प्रभाव पड़ता चलता है। ज़रा-ज़रा-सी बातों पर आँखें तरेरना तथा क्रोधादि वेगों का बड़ा सूक्ष्म पर स्पष्ट अनुभव बच्चे करते रहते हैं और उनकी नक़ल करते रहते हैं। इन क्रियाओं को हम समाज के लिए आवश्यक समझकर सदा से चलाते आ रहे हैं, लेकिन जब हम उपदेशक हो जाते हैं और

उपदेश देने लगते हैं उस समय तो हम अपने प्रति बड़े उदार हो जाते हैं और दूसरे के प्रति उतने ही संकीर्ण। हम सदा ही सबको सत्यवादी हरिश्चंद्र बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं लेकिन हम यह नहीं समझते हैं कि चरित्र के विरुद्ध केवल शब्दों के द्वारा विचारों और भावों का जो प्रदर्शन होता है वह रूई का गाला होता है और साधारण से साधारण बात उसे उड़ा ले जा सकती है। जितनी बार हम बच्चे से यह कहते हैं 'झूठ नहीं बोलना चाहिये' और सदा यदि हम ऐसा नहीं करते तो उतनी ही बार हम बच्चे को झूठ बोलने के लिए उत्साहित करते रहते हैं। बच्चों से उनके दोषों को करबद्ध खड़ा करा कर स्वीकार कराना और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा आदि कराना ऐसी बातें हैं जो यथार्थ में अव्यक्त रूप से बच्चों को उसी ओर खींच कर ले जाती हैं जिनके विरुद्ध हम प्रतिज्ञाएँ कराते हैं। यदि हम बच्चों की किसी खराब आदत को छुड़ाना ही चाहते हैं तो हमें भी अपने बुरे कामों को छोड़ देना चाहिये और स्पष्ट उदाहरण हो जाना चाहिये। ऐसे ही समय प्रतिज्ञा कराना सफल हो सकता है या जिस समय बच्चे खराब आदतों की ओर झुक रहे हों उनके ध्यान को दूसरी ओर फेरा जा सकता है और धीरे-धीरे उस बुरी आदत से उनका ध्यान हटाया जा सकता है।

बच्चे बड़े ही सूक्ष्मदर्शी आलोचक होते हैं। हम आप उन्हें निरा बच्चा समझते हैं और यह समझते हैं कि अभी इन

बच्चों पर हमारी बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। जब ये बड़े हो जायेंगे तो हम उनके सामने ऐसी बातें नहीं करेंगे जिनका बुरा प्रभाव बच्चों पर पड़े, पर यदि सच पूछिये तो बच्चा अपने पालने पर से ही हमारी आपकी आलोचना प्रारम्भ कर देता है और यह देखता रहता है कि हमारे माता पिता कितने पानी में हैं। वह स्वयं भी गिरगिट की तरह अपने वातावरण के अनुरूप अपना रूप—अव्यक्त रूप—बनाता चलता है पर हम उसे अबोध समझ कर भविष्य में उसकी आदतों को ठीक कर लेने की कल्पना करते रहते हैं।

शैशवावस्था ही क्यों उदरावस्था के समय से ही बच्चे या भ्रूण पर माता पिता के कर्मों का प्रभाव पड़ता रहता है और धीरे धीरे बच्चे के विकास के साथ वे बातें प्रकट होने लगती हैं। शैशवावस्था में बच्चा माता पिता के क्रीड़ा की वस्तु रहता है पर ज्यों ज्यों बच्चे के विकास के साथ, उस पर पड़ी, प्रतिच्छाया की छाप झलकने लगती है तब माता पिता सशंक हो जाते हैं और बच्चे के स्वभाव और ढंग में परिवर्तन करने की उनको आवश्यकता प्रतीत होती है। लेकिन बच्चों के वे स्वभाव या ढंग तो काफी दिनों के अनुभव हो चुकते हैं, वे कच्चे घड़े के चिह्न नहीं जो मिटाये जा सकते हों। इसलिए अभिभावकों को चरित्र निर्माण की धुन सवार होती है और बच्चे को अग्नि परीक्षाएँ देने का अवसर निकट आ जाता है।

एक शराबी कभी भी यह नहीं चाहता कि उसका बच्चा शराबी हो। यदि लोग कहते हैं 'भई! तुम तो शराब पीते हो, यदि वह पीता है तो क्या पाप करता है?' तो वह फौरन कहेगा—'वाह साहब मैं खराब हो गया तो क्या अपने बच्चे को भी खराब हो जाने दूँ?' पर वह अज्ञान यह नहीं समझता कि वह वचन के द्वारा अपने बच्चे का सात जन्म में भी सुधार नहीं कर सकता। उस बच्चे के चरित्र को सुधारने के पहले उसे अपना चरित्र सुधारना होगा।

अध्यापकों, उपदेशकों और अभिभावकों को कोरे आदर्शों की शिक्षा देना तो फौरन बन्द कर देना चाहिये। उन्हें केवल उन्हीं बातों की शिक्षा देनी चाहिये जो अनुभूत हों और जिन पर वे चलते हों और जिन बातों ने उनके चरित्र का निर्माण किया हो। भावी समाज केवल आदर्शों के द्वारा कभी भी नहीं बनाया जा सकता। जो आदर्श कार्य रूप में मनुष्य के द्वारा परिवर्तित किए जा सकते हों उनकी ही शिक्षा लाभप्रद है और बच्चे के जीवन को सुखमय बना सकती है।

बच्चों की इच्छाएँ।

बच्चे के जीवन में उसकी इच्छाएँ अधिक महत्व रखती हैं। जितना ही अभिभावकों द्वारा बालक की इच्छाओं का विरोध होता चलता है उतनी ही जटिलताएँ बच्चे में उत्पन्न होती चलती हैं। शैशवावस्था में स्वच्छता को लेकर ही माता पिता बालकों की इच्छाओं को, दिन भर में अनेक बार रोकते हैं। एक बच्चे को बिना उसकी इच्छाओं और शारीरिक क्रियाओं को रोके हुए भी स्वच्छ रखा जा सकता है। यदि हम किसी पशु के बच्चे को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि शारीरिक क्रियाओं के द्वारा ही वे अपने को साफ सुथरा रखने में समर्थ होते हैं। बच्चे की जन्मजात स्वच्छता की भावना में जो कठिनाई पड़ती है उसका कारण है बड़ों की स्वच्छता संबंधी हिदायतें। जिस समय मिट्टी से खेलते हुए बच्चे के सम्मुख माता कहती है—'मुन्नू गन्दा है छीः छीः राम राम।' उस समय माता के द्वारा ग़लत और ठीक बातों की धारणा बच्चे में उत्पन्न होती है। माता के इन विचारों का शारीरिक सफाई से कम सम्बन्ध रहता है और अधिकतर ये भावनायें नैतिक विचार हो जाती हैं। और नैतिकता की शिक्षा सदा बच्चे के लिए हानिकर होती है। इसलिए बच्चे को इस बात की शिक्षा देना कि वह गंदा हो रहा है हानिकारक है। उचित मार्ग यह है कि बच्चे की बलवती

इच्छा—मिट्टी खेलने की—संतुष्ट होने दी जाय। जब अपनी इच्छा को बच्चा संतुष्ट कर लेता है तो उस इच्छा को संतुष्ट करते हुए धीरे-धीरे उस इच्छा का नाश भी कर डालता है। जहाँ इच्छाएँ संतुष्ट हुई तहाँ वे धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं। कुछ दिनों के बाद बच्चा उस इच्छा के लिए इच्छा भी प्रकट नहीं करता। एक छोटा बच्चा है। उसे काग़ज़ मुँह में डालने का बड़ा शौक है या यों कहिए वह कागज़ मुँह में डालता है। लेकिन जब उसकी माता या पिता छिः छिः कहकर उसके हाथ से कागज़ छीनने का और मुँह में डालने का विरोध करते हैं तो वह चिड़चिड़ा उठता है और इस क्रिया को और शीघ्रता से करने लगता। लेकिन जब उसे खूब कागज़ खेलने और मुँह में डालने दिया गया और बिना विरोध किए छोटे टुकड़ों को मुँह से निकाल दिया गया तो यह क्रिया कुछ दिनों तक चलती रही पर धीरे-धीरे मंद हो गयी और एक सप्ताह के भीतर हीं उसकी यह इच्छा तृप्त हो गयी। छोटे बच्चों को उचित और अनुचित के मापदण्ड की व्याख्या की शिक्षा देना बिलकुल ही व्यर्थ है। बच्चों के हुल्लड़ या शोर मचाने को रोकना उतना हानिकारक नहीं जितना कि उनकी शारीरिक क्रियाओं की इच्छाओं का विरोध करना। 'शोर मत करो' केवल उतावलेपन की हार्दिक भावना है। पर 'छिः छिः या गंदा है' में नैतिकता का भाव है।

आज के मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि प्रत्येक भय यथार्थ में छिपी हुई इच्छाएँ होती है। बालक की इच्छाएँ भयात्मक भावनाओं

में परिवर्तित की जा सकती हैं। बच्चे बिल्ली से या भूत से, या इन प्रकार की चीजों से जो डराए जाते हैं, वह क्यों ? इस लिए कि वे अपनी इच्छा प्रकट करते हैं और अभिभावकों को उनकी इस इच्छा का विरोध, भय के द्वारा करना है जिससे कि फिर कभी वे इच्छाएँ न प्रकट करें। जब बच्चे में भय की भावना उत्पन्न होती है उस समय उसके तर्क और हठ की क्रिया लुप्त हो जाती है। इस लिए प्रत्येक इच्छाओं को, जो अभिभावकों की इच्छा के विरुद्ध होती है भय के द्वारा दबायी जाती है। कभी कभी दाइयाँ और बच्चे खिलानेवाले नौकरों के द्वारा भी इच्छाएं भय के रूप में परिवर्तित कर दी जाती हैं। बच्चा डरता है और वह डरता है केवल अपनी दबी हुई इच्छा से।

कभी कभी उसी इच्छा का विरोध करनेवाले व्यक्ति के प्रति ही भय की भावना की उत्पत्ति होती है। जब बालक की इच्छा एक व्यक्ति के द्वारा दबायी जाती है तब उस समय कभी-कभी यह भय उस व्यक्ति पर ही केन्द्रित हो जाता है और बच्चे की भयपूर्ण इच्छाएँ, अभिभावक के प्रति हो जाती हैं। जब कभी माता बच्चे को अग्नि छूने के लिए मना करती है तो अग्नि छूने की इच्छा माता के साथ संबंधित हो जाती है और माता और अग्नि दोनों भयात्मक हो जाते हैं। जब बालक की इच्छाओं का विरोध होता है तब वह घृणा करने लगता है। विरोध घृणा उत्पन्न करता है। यदि किसी बच्चे की आप कोई चीज़ ले लें तो वह आप पर इतना

क्रोधित होगा कि यदि वह आप का संहार कर सकता तो अवश्य कर डालता। लेकिन वह अपने को असहाय पाता है, और जब, हमें या आपको अपने से बलशाली पाता है तब वह कल्पना के द्वारा ऐसी कल्पना करता है या ऐसी कहानियाँ गढ़ता है जिसमें यह बड़ों से बदला लेता है। बड़े-बड़े शेरों का, बड़े-बड़े भूतों के संहार की ही कहानियाँ वह कहता और पसन्द करता है।

अवरुद्ध इच्छाएँ कल्पना की जननी होती हैं। प्रत्येक बच्चा बड़ा होना चाहता है लेकिन वातावरण से अनुभव प्राप्त करता है कि वह बहुत छोटा है। उसकी प्रबल इच्छा बड़ों की तरह कार्य करने की होती है इसलिये वह कल्पना के पंख लगा कर उड़ता है और ऐसे लोक में पहुँचता है जहाँ वह अपने को बड़ा पाता है। जब एक बच्चा बड़ों को वश में करना चाहता है या चीजों पर अधिकार करना चाहता है उस समय उसकी 'शक्ति विषयक इच्छा' होती है। बच्चों को परियों की कहानियाँ इसलिए प्रिय होती हैं कि कि वे उड़ सकती हैं, जहाँ चाहें जा सकतीं, और जो चाहें कर सकती हैं। कुछ बड़े लोगों को भी ऐसी कहानियाँ इसलिए प्रिय होती हैं कि वे बच्चे होना चाहते हैं। बच्चे इसलिए होना चाहते हैं कि उस समय उन्हें सब झंझटों से फुर्सत हो जायेगी। जिम्मेदारी का कोई प्रश्न न होगा। बच्चे कभी भी बच्चे रहने की इच्छा नहीं रखते और न पसन्द करते क्योंकि उनकी इच्छा बड़े होने और शक्ति युक्त होने की होती है।

इस लिए बच्चों की जिज्ञासा और उनकी शारीरिक क्रियाओं का विरोध, उनके शक्ति प्रेम का हनन करता है। वे युवक जो किसी काम के या खेल के पीछे दीवाने रहते हैं, अपनी दबायी गई इच्छाओं को खेल कूद में दिलचस्पी लेकर तृप्त करने का प्रयत्न करते हैं। बच्चे स्वभावतः सामाजिक नियमों और शान्ति के प्रेमी होते हैं लेकिन यही शान्ति जब आज्ञा के रूप में, अभिभावक या अध्यापकों द्वारा—जो बच्चों से अधिक क्षमता और शक्ति रखते हैं—बच्चों पर लादी जाती है तब वे उसका विरोध करने लगते हैं। शिशु जन्मतः नेक, प्रिय और प्रेमी होता है। उसके हृदय में विरोध की भावना अपने से बड़ों के प्रति—इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि वह स्वयं अपने को महत्व देना चाहता है।

अभिभावकों में विरोध की भावना इसलिए उत्पन्न होती है कि वे बच्चे को अच्छा, बुरा समझने वाला प्राणी समझते हैं और उनके मस्तिष्क को एक ऐसा स्लेट समझते हैं जिस पर वे अपनी इच्छानुसार जो कुछ चाहें भाग्य के रूप में अंकित कर दें। लेकिन अचेतनावस्था के मनोविज्ञान के विकास ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि बच्चा केवल इच्छाओं का प्रतीक है और शैशवावस्था में वह केवल अपनी इच्छाओं को प्रधानता देता है और उन्हे ही व्यक्त करना चाहता है।

अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति संतान के द्वारा

मनुष्य में यदि आकांक्षाएँ उत्पन्न न हों तो संसार की बहुत-सी जटिलताएँ दूर हो जायँ। आकांक्षाओं के जन्म लेते ही मनुष्य के जीवन में बहुत से मनोविकार और मनोवेग उत्पन्न होते हैं। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वह अन्याय, चोरी, द्वेष छल कपट आदि सभी कुछ करता है। इन यंत्रों के प्रयोग करने पर भी, और, उचित रीतियों का उपयोग करने पर भी सदा प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षाएँ पूर्ण हो ऐसा नहीं होता और न यह संभव ही है। मनुष्य के जीवन में साधारणतया ३० से लेकर ६० प्रतिशत तक मनुष्य की आकांक्षाएँ अतृप्त ही रहती है।

कभी कभी इन आकांक्षाओं के द्वारा मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है और कभी कभी ये आकांक्षाएँ ही उसे गर्त में गिरा देती हैं। ये बातें आकांक्षाओं के प्रकार पर निर्भर करती हैं। जिस व्यक्ति की जो आकांक्षाएँ अतृप्त रहती हैं, उनकी पूर्ति किस प्रकार होती है?

मनुष्य के जीवन में कल्पना का बड़ा हाथ रहता है। वह कल्पना के द्वारा सुख भी पाता है और दुख भी पाता है। लेकिन बहुत से व्यक्तियों में ये कल्पनाएँ, उनकी अतृप्त आकांक्षाओं को बहुत दिन तक जीवित रखती हैं। ये अतृप्त आकांक्षाएँ उस मनुष्य

के हृदय के एक कोने में जागृतावस्था में पड़ी रहती है। अवसर आने पर वह इन्हीं आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रयत्न करता है। कभी कभी जब ये अतृप्त आकांक्षाएं पूरी हो जाती हैं तो उस व्यक्ति को लोकोत्तर आनन्द आता है। ये अतृप्त आकांक्षाएं किस प्रकार तृप्त होने का प्रयत्न करती हैं?

जब एक व्यक्ति के संतान उत्पन्न होती है, उस समय से ही ये अतृप्त आकांक्षाएँ फिर जोर मारने लगती हैं। और अपने को कार्य क्षेत्र में लाने का प्रयत्न करती हैं। वह व्यक्ति, जो इन अतृप्त आकांक्षाओं का वाहक रहता है, यन्त्र की भाँति उन आकांक्षाओं का आरोप अपनी संतान पर करने लगता है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति, शिक्षा के वातावरण में रहने पर भी शिक्षित नहीं हो पाया। उसकी इच्छा शिक्षित होने की थी, पर कुछ कारणों से, या परिस्थितियों के कारण, वह जैसी शिक्षा चाहता था न पा सका। इस अवस्था में उसकी शिक्षा के प्रति अतृप्त आकांक्षा रह जाती है, और यह अतृप्त आकांक्षा असहायावस्था के कारण चुपचाप दबी पड़ी रहती है। जैसे ही उस व्यक्ति के संतान उत्पन्न होती है उसी क्षण वह बड़ा सतर्क हो जाता है और अपनी संतान को शिक्षित बनाने का भगीरथ प्रयत्न करने की कल्पना करने लगता है और अवसर आने पर भगीरथ प्रयत्न करता भी है। इस प्रकार और भी अतृप्त आकांक्षाओं की मिसालें दी जा सकती हैं।

यदि ये आकांक्षाएँ स्वभाव विशेष वाले व्यक्तियों से या क्षेत्र

विशेष से सम्बन्ध नहीं रखतीं तब तक तो इनका साधारण प्रभाव बच्चे पर अच्छा ही पड़ता है, पर, यदि वह अतृप्त आकांक्षा स्वभाव विशेष या क्षेत्र विशेष की अतृप्त आकांक्षा हैं तब तो बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक रंक की यह आकांक्षा रही हो कि वह सम्राट हो जाय, तो यदि वह चाहे कि उसका पुत्र सम्राट् हो जाय,—क्योंकि उसकी आकांक्षा अतृप्त रह गयी थी तो यह जरा कठिन और असंभव की सीमा के पास पहुँचती सी बात होगी। इसी प्रकार यदि एक क्रोधी की यदि अतृप्त आकांक्षा सहिष्णु होने की रही हो तो वह चाहे कितना ही प्रयत्न करे, यह बात कठिन होगी कि उसका पुत्र सहिष्णु ही हो। संसार में अपवाद भी होता है। कभी कभी ऐसे अवसर आते हैं कि ऐसी अतृप्त आकांक्षाएँ भी तृप्त हो जाती हैं।

हमें अपवादों पर विचार नहीं करना है। हमें देखना चाहिये कि स्वभाव विशेष या क्षेत्र विशेष वाले व्यक्तियों की अतृप्त आकांक्षाओं का क्या प्रभाव पड़ता है। अधिकतर ऐसी अतृप्त आकांक्षा वाले व्यक्ति हर प्रकार से अपनी संतान को, इन आकांक्षाओं के पूरक, बनाना चाहते हैं। इससे संतान के स्वाभाविक विकास की दशा को मोड़ कर, या अपने साँचे में ढाल कर, अपनी आकांक्षाओं की ओर लाने का प्रबल प्रयत्न करते हैं। इसलिए स्वाभाविक विकास और कृत्रिम विकास में बड़ा भयंकर द्वंद्व प्रारंभ होता है। संतान के हृदय में विद्रोह के अंकुर-

उदित होने लगते हैं। उसका स्वाभाविक विकास उसे अपने विस्तृत क्षेत्र से हटता देख और जबरदस्ती कल्पित और निर्धारित क्षेत्र की ओर जाता देख बच्चे के जीवन में कल्पना उत्पन्न करता है और अपनी स्वाभाविक आकांक्षाओं को—जिसकी सहज में वह पूर्ति कर सकता था—अतृप्त आकांक्षाएँ बनाने के लिए बाध्य किया जाता है। और स्वयं अपने पिता की अतृप्त आकांक्षाओं के द्वारा परिचालित होता है। वह बच्चा केवल बुद्धि-युक्त एक यंत्र हो जाता है। इन संघर्षों के फलस्वरूप उसे मिलती है—अतृप्त आकांक्षाओं की धरोहर जो वह आगे चलकर अपनी संतान को सौंपता है या सौंपने का प्रयत्न करता है।

ऐसी संतानें कम होती हैं जो अपने अभिभावक की अतृप्त आकांक्षाओं की पूरक हों। यदि उसकी स्वाभाविक आकांक्षाएँ प्रबल होती हैं तो वह विकास के द्वारा उन्नति के मार्ग पर स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक रूप से आगे बढ़ता जाता है और अपना क्षेत्र स्वयं बनाता है। लेकिन स्वाभाविक विकास और कृत्रिम विकास की संतुलन शक्ति यदि बराबर होती है तो उस समय संतान के विकास की गति कुंठित हो जाती है। उस बच्चे का विकास नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं कि उसके शारीरिक विकास या सांसारिक अनुभव का विकास नहीं होता। इन सबका विकास होता है पर मानसिक विकास की ओर वह अधिक सचेष्ट नहीं हो पाता। बच्चे के मानसिक विकास के लिए उसकी स्वाभाविक आकांक्षाएँ

ही उचित हैं और उपयुक्त हैं। जब बच्चे की इन स्वाभाविक आकांक्षाओं के साथ छेड़-छाड़ प्रारंभ होती है, तब कठिनाइयाँ अधिक बढ़ जाती हैं और हमारी ही क्यों, बालक की भी कठिनाइयाँ बढ़ जाती है और अपनी इन कठिनाइयों या जीवन में रही कमी को वह बच्चा बड़े होने पर पूरा करता है—कल्पना के द्वारा।

मनोवृत्तियों की चरम सीमाएँ और बालक

इसके पूर्व कि मनोविज्ञान ने चरम सीमाओं की हानिकारक प्रवृत्ति का विश्लेषण किया हो, हमारे यहाँ 'अति सर्वत्र वर्जयेत' एक प्राचीन सिद्धान्त प्रचलित था। किसी भी बात की अधिकता वर्जित है, चाहे वह सामाजिक, धार्मिक या नैतिक क्षेत्र की ही क्यों न हो। इसीलिए तथागत ने सदा ही मध्यम मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश अपने शिष्यों को दिया है। जब हमारा प्रेम चरम सीमा को पहुँचता है तो उसका परिणाम अपने ऊपर ही हानिकर होता है। प्रेम द्वारा प्रेमी अपने प्रिय को आत्म समर्पण करता है। यह आत्म समर्पण जब चरम सीमा को पहुँचता है तो उसका परिणाम यह होता है कि वह व्यक्ति जो आत्म समर्पण करता है अपनी सारी शक्तियों को संकुचित कर एक ओर ही केन्द्रीभूत कर लेता है। इस प्रकार उसकी शक्तियाँ समाज के किसी भी काम की नहीं रह जातीं और वह व्यक्ति समाज के योग्य नहीं रह जाता। उसका लक्ष्य केवल एक रहता है—प्रेम, और इसलिए उसकी सारी मनोवृत्तियाँ उसी ओर खिंच जाती हैं।

इस प्रकार जब धार्मिक या सांसारिक प्रवृत्तियाँ चरम सीमाओं को पहुँचती हैं, तो भी हानि होती है। अत्यन्त धार्मिक मनोवृत्ति और अत्यन्त सांसारिक मनोवृत्ति होने से, क्रमशः एक दूसरे की

उपेक्षा होने लगती है। और इस उपेक्षा का परिणाम होता है धार्मिक या सामाजिक ह्रास।

इसलिए जब हमारी मनोवृत्तियाँ चरम सीमाओं को पहुँचती हैं तो, या तो वे वैयक्तिक हानि पहुँचाती हैं, या सामाजिक हानि ही उनके द्वारा होती है। एक बच्चा जो माता के स्नेह से इस प्रकार आवृत रहता है कि उसके लिए माता उचित या अनुचित, किसी बात का बिना विचार किए हर समय अपनी छाया के समान साथ रखती है और वह बालक हर समय माता के अंचल के खूँट में ही बँधा रहता है, तो उस समय इस स्नेह का क्या परिणाम होगा? या तो वह बच्चा स्त्रैण हो जाता है या उसकी विवेक या अविवेक की भावना ही जाग्रत नहीं हो पाती। स्त्रैण हो जाने का तात्पर्य यह है कि वह पुरुषोचित गुणों की अपेक्षा स्त्रीयोचित गुणों की ओर अधिक आकृष्ट होगा और वह अधिकतर स्त्रियों के समाज में ही रहना पसंद करेगा। पुरुषों के समाज में जाते या तो उसे लज्जा मालूम होगी या वह वहाँ, मौन, गंभीर विचारकों की भाँति केवल चुपचाप बैठ कर अपना समय व्यतीत करेगा। यदि एक बच्चा पिता का चरम सीमा का स्नेह पात्र है तो पिता की स्थिति धीरे धीरे साधारण घरों के पुत्र की सी हो जायगी; और उसका पुत्र पिता की स्थिति में अपनी कल्पना कर आचरण करने लगेगा। इसलिए मनोवृत्ति का मध्य मार्ग ही बच्चों के लालन पालन और शिक्षा के लिए श्रेयस्कर होता है।

कभी कभी जब घृणा की मनोवृत्ति चरम सीमा को पहुँचती है तो उपेक्षित प्राणी या घृणित व्यक्ति का व्यक्तिगत लाभ हो जाता है। यह क्यों? बात यह है कि आप जिसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं उसकी उपेक्षा करते हैं और जितनी आप उस व्यक्ति या बालक की उपेक्षा अधिकाधिक करते जायगे वह अपनी असहाया-वस्था से परिचित होता जायगा। जब असहायावस्था होती है तो मनुष्य अपने लिए कोई न कोई मार्ग ढूँढ़ ही निकालता है। वह अपने पैरों पर खड़ा होने की कोशिश करने लगता है। इसीलिए बहुधा देखने में आता है कि तिरस्कृत या उपेक्षित बालकों का जीवन कभी कभी आगे चल कर बड़ा उज्वल हो जाता है। उपेक्षा के भाव में कभी कभी मनुष्य की आन्तरिक मनोवृत्ति बच्चे को ठीक मार्ग पर लाने की होती है, पर यदि इस आन्तरिक मनोवृत्ति का तनिक भी आभास बालक को मिल जाता है तो वह अपने पैरों पर कभी भी खड़े होने की कोशिश नहीं करता। जब चरम सीमा की उपेक्षा या घृणा होती है तभी उसके अन्तर में सुधार या प्रेम का अचेतनावस्था में भाव निहित रहता है।

अब हमें यह देखना है कि आखिर ये मनोवृत्तियाँ कब और क्यों चरम सीमाओं को पहुँचती हैं? जिस प्रकार व्यक्ति विशेष के जीवन के व्यक्तिगत सिद्धान्त सामाजिक नहीं हो सकते, उसी प्रकार व्यक्तिगत मनोविज्ञान द्वारा समाज का विवेचन नहीं हो सकता। यह बात अवश्य है कि व्यक्ति से ही समाज की रचना होती है पर

सब व्यक्तियों के एकत्रित होने पर सबका ध्यान न सही, बहुसंख्यक विचार वाले व्यक्तियों का ध्यान रखते हुए सामाजिक नियमों का निर्माण होता है। इसी प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से होते हुए भी उससे संबंधित नहीं है। मनोवृत्तियों का अधिक संबंध व्यक्तिगत मनोविज्ञान से है। विशेष अवसर पर, परिस्थिति विशेष में मनुष्य की मनोवृत्तियाँ चरम सीमा को पहुँचती हैं। पर जो भी मनोवृत्ति चरम सीमा को पहुँचती है उसकी चरम सीमा के विकास का कारण होतो है दुर्बलता। यह दुर्बलता किसी भी प्रकार की हो सकती है, और किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित हो सकती है।

जब हम चरम सीमा की उदारता दिखाते हैं उस समय उस उदारता के पीछे प्रतिष्ठा पाने या नाम कमाने की हमारी मानसिक दुर्बलता छिपी होती है। हमें हमेशा यह भय लगा रहता है कि कहीं कोई हमसे अधिक उदार न समझ लिया जाय। भले ही हमारी उदारता का क्षेत्र सीमित हो। प्रतिस्पर्द्धा सीमित क्षेत्रों में तो और वेग से चलती है। क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि सभी मनोवृत्तियों की संसार में आवश्यकता पड़ती है, और यदि ये मनोवृत्तियाँ न हों तो संभव है समाज में कठिनाइयाँ उत्पन्न हों; पर जब ये चरम सीमा को पहुँचती हैं तो दुर्बलता के चिह्न होती हैं।

पर एक बड़ी कठिनाई है। वह व्यक्ति जिसकी कोई भी मनोवृत्ति चरम सीमा को पहुँच चुकी है इस बात का या इस कमजोरी

का तनिक भी अनुभव नहीं करता। अनुभव तो जाने दीजिये वह अपनी इस दुर्बलता का आरोप समाज के प्राणियों पर करता है। वह अपनी मनोवृत्ति का प्रति बिम्ब प्रत्येक व्यक्ति में देखता है और कहता है, 'देखिये न साहब वह कितना बड़ा लोभी है, या क्रोधी है।' आदि। जब कि वह स्वयं अपने लोभ या क्रोध को संतुष्ट करता है। इसका परिणाम होता है अहमन्यता और असहिष्णुता। जो मनुष्य चरम सीमा की मनोवृत्तियों का शिकार हो जाता है वह कभी भी समाज के व्यक्तियों के साथ सामाजिक नियमों का पालन करते हुए अपना जीवन नहीं निभा सकता क्योंकि पग पग पर उसे अपनी मनोवृत्ति को संतुष्ट करना पड़ता है और वह उसके विरुद्ध जा नहीं सकता। वह व्यक्ति कभी भी सहिष्णु नहीं हो सकता जो अपने स्वार्थ या व्यक्तिगत मनोवृत्ति का पालन पोषण करता है।

प्रत्येक परिवार में ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ चरम सीमा की मनोवृत्तियों के उदाहरण हों। उन परिवारों में जहाँ इस श्रेणी के व्यक्ति होते हैं बच्चों की विचित्र स्थिति होती है।

भावनाओं की प्रतिच्छायाएँ

प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक वस्तु के निमित्त अपनी व्यक्तिगत भावनाएँ होती हैं। ये भावनाएँ मनुष्य के स्वभाव से अत्यधिक सम्बन्धित रहती हैं। समाज में ऐसे प्राणी कम मिलते हैं जो अपनी खरी और स्पष्ट आलोचनाएँ कर सकें या अपने विचारों का दूसरों द्वारा स्पष्ट विवेचन होने देना पसन्द करें। कोई भी लोभी स्वभाव का व्यक्ति यह कभी भी अनुभव नहीं करता कि वह सचमुच लोभी है। साथ ही वह यह भी चाहता है कि उसे कोई लोभी न कहे। लेकिन कोई उसे यदि लोभी कह देता है तो अपने लोभ की भावना को जायज़ और उचित बताने के लिए वह अनेक प्रमाण पेश करेगा। इस प्रकार एक विशेष स्वभाव का व्यक्ति सदा अपनी भावना विशेष का प्रतिपादन करता रहता है। लेकिन ऐसे स्वभाव वाले व्यक्तियों की मनोदशा ऐसी हो जाती है कि उनकी भावना का स्पष्ट आभास समाज को मिलता रहता है। इस मनोदशा का प्रतिबिम्ब ही है—व्यक्तिगत स्वभाव विशेष की प्रतिच्छाया।

एक लोभी उदारता का महत्व नहीं समझता। महत्व समझने की बात तो दूर रही, वह सदा दूसरे व्यक्ति को लोभी समझता रहता है और कहता फिरता है—'देखिए न साहब वह कितना

बड़ा लोभी है। लोभ करना बड़ी बुरी बात है। न जाने क्यों दुनियाँ इसके पीछे मरती है।' आदि। पर सच बात तो यह है कि वह केवल अपनी भावना का आरोप करके उसकी स्पष्ट प्रतिछाया दूसरे व्यक्ति में देखता रहता है। उसके समक्ष या उसकी समझ में उदार व्यक्ति होना ही असंभव है।

इस प्रतिच्छाया का प्रधान कारण क्या है? क्यों कोई व्यक्ति अपनी भावना को छिपाता फिरता है और उसका आरोप दूसरे व्यक्ति पर करता है? समाज का प्रत्येक प्राणी, अव्यक्त या व्यक्त चेतनावस्था या अचेतनावस्था के द्वारा अपने स्वभाव को पूर्ण रूप से समझता है। 'स्वभाव' को समझते हुए वह उसकी अव्यक्त या व्यक्त रूप से आलोचना भी करता है पर प्रत्येक व्यक्ति का 'अहंवाद' अपने को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति—उसे दूसरों से अपने को श्रेष्ठ समझने को बाध्य करता है। इस अहंवाद के कारण वह अपने को श्रेष्ठ समझते हुए, अपने चातुर्य का प्रदर्शन करता है और समझता है कि समाज का कोई व्यक्ति उसकी भावना को नहीं समझ सकता। दूसरी बात यह है कि किसी भी व्यक्ति में इतना साहस नहीं होता कि वह अपने दोषों या दूषित भावना का प्रदर्शन होने दे और उसकी आलोचना का मार्ग खुल जाय। वह सदा अपने दोषों को दूसरों पर आरोपित कर उस व्यक्ति का सुधार करना चाहता है। यह सुधार की भावना, और स्वभाव के विवेचन के प्रति आतंकयुक्त विरक्ति की भावना के कारण ही मनुष्य अपने

स्वभाव की प्रतिच्छाया दूसरों में देखता है और दूसरों पर अपने स्वभाव का आरोप करता है।

यदि एक दुराचारी व्यक्ति से आप कहें—'भाई रामलाल बड़ा सच्चरित्र है और सदाचारी है।' तो वह फौरन इस प्रकार की बात कहेगा—'जी हाँ भीष्म पितामह के बाद रामलाल ही तो हुए हैं। बहुत सदाचार देखा है। अपने पास रखिए अपने सदाचार को।' आदि। इस प्रकार समाज में सदा भावनाओं की प्रधानता रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भावों के अनुसार समाज की आलोचना करता है और अपने ऐसे स्वभाव वाले व्यक्ति को ही आकर्षित करता रहता है। लेकिन कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि एक व्यक्ति, व्यक्त रूप से, या वाह्य रूप से, बड़ा सदाचारी बड़ा ही उदार होता है पर अपने स्वभाव के विपरीत दुराचारी लोभी और कर्कष स्वभाव वाले व्यक्तियों को ही आकर्षित करता है और उनका केन्द्र स्वयं हो जाता हैं। ऐसा क्यों ?

भावनाएँ भी व्यक्त और अव्यक्त होती हैं। स्वभाव भी व्यक्त और अव्यक्त होते हैं। एक व्यक्ति व्यक्त रूप से सच्चरित्र हो सकता है। पर वही व्यक्ति अव्यक्त रूप से उतना ही दुश्चरित्र हो सकता है। और ऐसा संभव है कि उसका अव्यक्त ही अधिक आकर्षण शक्ति रखता हो, और इसलिये वह दुराचारियों आदि को ही आकर्षित करता है। इन व्यक्त और अव्यक्त भावनाओं की प्रतिच्छायाओं में भी इसी प्रकार कभी-कभी विरोधाभास हो जाता है। जैसे एक

व्यक्त अनुदार व्यक्ति अव्यक्त रूप से बड़ा उदार व्यक्ति हो सकता है और वह अपनी अव्यक्त भावना की ही [illegible] कभी-कभी दूसरों में देख सकता है। व्यक्त या अव्यक्त, जिस भावना में अधिक आकर्षण शक्ति या [illegible] शक्ति होती है उसी की प्रतिच्छाया वह व्यक्ति दूसरों में देखता है।

महान पुरुष, या महान आत्माएँ या अव्यक्त और व्यक्त रूप से महान भावनाओं वाले व्यक्ति संसार में इने गिने होते हैं। ये विशेषण ऐसे हैं जिनका प्रयोग ज़रा सँभल कर करना चाहिये। बहुधा देखने में आता है कि एक व्यक्ति सामाजिक रूप से बड़ा उदार है पर व्यक्तिगत रूप से वैसा ही संकीर्ण है।

सहज, स्वाभाविक उच्च भावना वाले व्यक्ति दूसरे पर भी अपनी भावना का आरोप करते हैं उनकी समझ में अनुदारता या दुराचार की भावना ज़रा जल्दी समझ में नहीं आती है। इसलिए यदि कोई उनसे ऐसे व्यक्ति की चर्चा करता भी है तो वे सदा उसके कथन का विरोध करते हैं ऐसा नहीं कि उन्हें दोनों प्रकार की भावनाओं का बोध ही न हो। उन्हें बोध अवश्य रहता है पर उनकी स्वाभाविक भावना की उदारता उसके विरुद्ध चिंतन करने का समय ही नहीं देती। अव्यक्त रूप से उस स्वाभाविक उच्च भावना के विरोध की बात वे अव्यक्त रूप से सोचते और समझते होंगे। जो जितना ऊँचा उठता जाता है, जो समाज में जितनी उन्नति करता जाता है उसी के अनुसार उसकी

व्यक्त और अव्यक्त भावनाओं में क्रमशः परिवर्तन होता जाता है।

जब इन व्यक्त और अव्यक्त भावनाओं का समन्वय होता है या जब व्यक्त भावनाओं की आश्रित अव्यक्त भावनाएँ रहती हैं या जब दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हो जाता है तब वही पुरुष या तो वीतराग, महात्मा या इसी के विरुद्ध विपरीत चरम सीमा के स्वभाव वाला व्यक्ति होता है। व्यक्त और अव्यक्त भावनाओं का समन्वय ज़रा बहुत कठिन होता है और इसीलिए कभी-कभी बड़े प्रसिद्ध व्यक्तियों के भी मनसा वाचा कर्मणा में विरोध दिखायी पड़ता है।